योग-साधन-माला, ग्रंथ १

संध्योपासना।

लेखक और प्रकाशक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.
स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि० सातारा)

—:०:—

मुद्रक-अनंत आत्माराम मोरमकर,
श्री लक्ष्मी-नारायण प्रेस, ४०२, ठाकुरद्वार, मुंबई नं० २.

प्रथमवार १०००

विक्रमीयसंवत १९७७

मूल्य १।। रुपया.

धर्म शिक्षाके ग्रंथ।

यदि आप वैदिक धर्मका प्रचार और जागृति करना चाहते हैं तो—

बालकोंके अंतःकरणोंपर उत्तम संस्कार कीजिए। निम्न पुस्तक '**बालकोंकी धर्मशिक्षा**' के लिये बहुत अच्छे हैं—

(१) **बालकोंकी धर्मशिक्षा**। प्रथम भाग। प्रथम श्रेणीके बालक बालिकाओंके लिये। मूल्य-) एक आना।

(२) **बालकोंकी धर्मशिक्षा**। द्वितीय भाग। द्वितीय श्रेणीके बालक बालिकाओंके लिये। मूल्य=)

(३) **वैदिक-पाठ-माला**। प्रथम पुस्तक। तृतीय श्रेणीके बालक बालिकाओंके लिये। मूल्य≡) तीन आना।

गुजराती भाषामें

(१) **बालकोंनी-धर्म-शिक्षा**, प्रथम भाग। मू. एक आना।

अन्य श्रेणियोंकी धर्मशिक्षाके लिये ग्रंथ तैयार हो रहे हैं। शीघ्र मंगवाइए—

मंत्री—स्वाध्याय—मंडल,

औंध (जि. सातारा).

योग-साधन-माला, ग्रंथ १

ॐ

संध्योपासना।

लेखक और प्रकाशक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

मुद्रक

अनंत आत्माराम मोरमकर, श्री लक्ष्मी-नारायण प्रेस,

४०२, ठाकुरद्वार मुंबई नं. २.

प्रथमवार

संवत् १९७७, शक १८४२, सन १९२०.

संध्योपासना के विषयमें थोडासा विवेचन।

मेरे कई मित्रोंनें '**संध्या**' के विषयमें एक पुस्तक लिखने की मुझे कईवार प्रेरणा की। कइयोंनें यहां तक मुझे वाधित किया और कहा कि दूसरा कोई कार्य न करते हुए तुम इसी कार्यको सबसे पहिले करो। परंतु जब मैं '**संध्या**' के विषय में पुस्तक लिखने बैठता था, तब एक प्रकारकी भीति उत्पन्न होती थी। और मनमें दो प्रश्न खडे हो जाते थे, (१) क्या तुम यह नहीं जानते, कि आत्मिक अनुभव प्राप्त करने के पूर्व संध्या के विषयपर पुस्तक लिखना दूसरों को भ्रममें डालना है? और (२) जब तक संध्या के सब मंत्रों का परिज्ञान तुम्हें नहीं है, तब तक तुम संध्यापर पुस्तक किस प्रकार लिखोगे?

ये दोनों प्रश्न सच मुच बहुत विचार करने योग्य हैं, और इन प्रश्नोंके कारण ही संध्या के विषयपर पुस्तक लिखना इतने दिनों या सालों तक वैसा ही पडा रहा था। संध्या का विषय '**योग**' के अंतर्गत है, और योग का विषय केवल तर्कसेही विदित होने वाला नहीं है, इस लिये योग की विशेष भूमिकाओंका अनुभव लेनेके पश्चात् ही इस विषयपर लिखना और बोलना योग्य है। योग के विषयमें अनुभवके विना जिन्होंनें पुस्तकें लिखीं हैं, सब कीं सब भ्रम उत्पन्न करनेवालीं हो गईं हैं। इस लिये संध्या के विषयमें ऐसी और पुस्तक लिख कर भ्रम का प्रचार करने की क्या आवश्यकता है? ऐसा विचार मेरे मनमें वारंवार आ जाता था।

और इस डर के मारे पुस्तक लिखना असंभव हो जाता था। बहुत दिनों के पश्चात एक दिन मेरे एक माननीय मित्र आगये और कहने लगे कि, यदि पूर्ण प्रामाणिक पुस्तक नहीं लिखा जा

सकता, तो न सही, जो कुछ इस समयके विचार हैं, उनको ही एकत्र करके संगृहित किया जाय, तो भी विचार करने वालोंको कुछ लाभ हो सकता है। इस मित्रनें मुझे समझाया, कि बहुतोंके अपूर्ण विचारों से ही पूर्णताका मार्ग विदित होना संभव है। वास्तव में ऐसा होना संभव हो या न हो, परंतु यह बात सच्ची है कि इस समयमें हम दूसरा कुछ कर नहीं सकते। वैदिक परंपरा टूटनेके कारण मंत्रों के अर्थोंका ठीक पता इस समय लग नहीं सकता, तथा योगविद्या दुर्लभ होने के कारण ध्यान योग के बातोंका पूर्ण अनुभव प्राप्त होना अत्यंत कठिन है। इस अवस्थामें भिन्नभिन्न स्थान के अनेक विचारी लोकों के अनुभव और विचार मुद्रित होने से परस्परों के विचारों को–एक दूसरेके विचार देखनेसे–एक प्रकार की नवीन दिशा लग सकती है। और कालांतर से अनेकोंके थोडे थोडे अनुभव मिलकर एक पूर्ण ग्रंथ बन सकता है। इस लिये इस पुस्तकमें अपना और समान शील मित्रोंका जो जो अनुभव है उतनाही लिखा है, और केवल तर्ककी बात बहुत करके लिखी नहीं है। इसका हेतु इतनाही है, कि जो पाठक इस विधिके अनुसार संध्या करेंगे उनको योग्य समयमें इस पुस्तकमें लिखा अनुभव अवश्य प्राप्त हो जायगा। जो अनुभव एक नें लिया है वह दूसरेको प्रयत्न होनेपर अवश्य प्राप्त हो सकता है।

ग्रंथोंके प्रमाण और युक्तिवाद स्थानस्थानपर दिये ही है, परंतु वे उतने ही हैं कि जितना अनुभव हो गया है। मंत्रोंके अर्थोंके विषयमें इतना लिखना आवश्यक है, कि '**मनसा परिक्रमाके मंत्र**' बहुत प्रयत्न करने पर भी जैसे खुलने चाहिए वैसे अब तक नहीं खुले हैं। अन्य मंत्रोंके विषयमें कोई विशेषसा संदेह नहीं रहा है, परंतु 'मानसा परिक्रमा' के मंत्र मेरे लिये प्रारंभ

से इतने कठिन रहे हैं, कि विशेषतः उनहीं के कारण संध्या पर पुस्तक लिखनेका कार्य इतनी देर वैसाही पडा रहा था। इस पुस्तकमें इन मंत्रोंका विचार करने के लिये बहुतसे प्रमाण एकत्रित किये हैं, और अनेक कोष्टक बनाये हैं, परंतु अभीतक वह आंतरिक बात गुप्त ही रही है, कि जिससे समाधान हो सकता है। इस लिये पाठक उनका अधिक विचार करें और यदि कोई विशेष बात सूझी तो मुझे अवश्य सूचित करें।

इन मंत्रोंका तथा इस प्रकारके कई अन्य मंत्रोंका विज्ञान हमें इसलिये नहीं होता, कि हमारी वेदकी पढाई अपूर्ण है। यदि चारों वेदोंकी आद्योपांत पढाई हो जायगी, और मंत्रोंके पूर्वापर संबंधोंका निश्चित ज्ञान होगा, तो मंत्रोंके अर्थ समझनेमें कोई कठिनाई नहीं होगी। यदि बहुतसे विद्वान् वेदोंका स्वाध्याय नित्य करेंगें तो निश्चयसे वह दिन शीघ्रही आजायगा कि जिस दिनकी हम सब प्रतीक्षा कर रहें हैं। अस्तु। अब उन प्रश्नोंका विचार करूंगा कि जो प्रश्न संध्या के विषयमें वारंवार पूछे जाते हैं:—

(१) संध्या का अर्थ क्या है ?

(सं) उत्तम प्रकारसे (ध्यै) ध्यान करना '**संध्या**' का (Reflection, meditation thinking about) तात्पर्य है। '**संध्या**' शब्दका दूसरा अर्थ (Union) मेल, संयोग, संबंध है। उपासनाके समय परमेश्वर के साथ उपासक का संबंध अथवा मेल होता है, इस आशयका प्रकाश यह दूसरा अर्थ कर रहा है। पश्चात् दो पदार्थोंके संयोग संबंधको गौण वृत्तिसे यह शब्द प्रयुक्त होने लगा, और अंतमें दिन और रात्रीके '**संधिसमय**' के लिये रूढ हो गया। इस से पता लग जायगा, कि वास्तव में '**संध्या**' का भाव मूलमें 'प्रातःकाल और सायंकाल' नह

है। परंतु गौण वृत्तिसे अब यह भाव उस शब्दसे लिया जाता है। इतनाही नहीं परंतु प्रातःकाल और सायंकाल के साथ साथ '**संध्या**' का अभेद संबंध जोडा गया है !!! और स्मृतियोंमें भी सवेरे शामके समय संध्या न करनेवालेको दंड लिखा है।

(२) क्या संधिसमय का संध्यासे कोई संबंध नहीं है ?

दिन रात्रीके संधिसमयका संध्याके साथ थोडासा संबंध है, परंतु जैसा बताया जाता है, उतना संबंध नहीं है। प्रातःकाल-का सूर्योदयका समय, तथा सायंकालका सूर्यास्तका समय निःसंदेह अत्यंत मनोहर होता है। नदीका सुरम्य प्रवाह, पहाडोंके अद्भुत दृश्य, वन्य वृक्षलतादिकोंके आनंदकारक प्रदेश, उद्यानों के रमणीय भाग आदि स्थानों में सायंकाल और प्रातःकालके रमणीय सूर्य किरणोंसे ऐसे अद्भुत और विलक्षण दृश्य बनते हैं, कि देखनेवालोंके रसिक अंतःकरण उदात्त और गंभीर विचारों-से परिपूर्ण होकर, इस प्रकारके अद्भुत लीला कौशल्य और रचना चातुर्य बतानेवाले परमेश्वरके विलक्षण सामर्थ्य की विचा-रकी लहरियों से भी प्रफुल्लित हो जाते हैं। इस लिये प्रातःकाल और सायंकालका संधि समय संध्याके लिये श्रेष्ठ माना गया है। तथा नदीका प्रवाह आदि स्थान भी अच्छे समझे गये हैं।

परंतु '**संध्या**' का अधिकार सब देशोंके संपूर्ण लोकोंके लिये है। इस भूमीके ऊपर ऐसे प्रदेश हैं कि जहां कई मास तक सूर्योदय और सूर्यास्तमें केवल एक घण्टेका ही अवकाश रहता है, कई प्रदेशोंमें तीन तीन मासतक सूर्यदर्शन नहीं होता, कई प्रदेशोंमें बीस बीस घण्टोंतक रात्री ही रहती है। ऐसे प्रदेशोंमें रहनेवाले लोकोंके लिये सूर्यास्त और सूर्योदयका समय '**संध्या**-

का **समय** ' नहीं हो सकता । अथवा किसी उद्योग के कारण यदि हम उन प्रदेशोंमें चले गये, तो तीन महिनोंकी रात्रीमें संध्या करनेके लिये संधि समय ही नहीं मिलेगा और इस कारण संध्या नहीं होगी । इससे स्पष्ट है कि उक्त स्मृतियोंके आदेश केवल अपने हिंदुस्थानके लिये ही हैं । सार्वदेशिक नहीं हैं ।

वास्तवमें ऐसा है कि, निद्राकी समाप्ति और जागृतिके प्रारंभमें तथा जागृतिकी समाप्ति और निद्राके पूर्व संध्या करना चाहिए । निद्रा रात्री है और जागृति दिन है । दोनोंके **संधि-समयमें** इस प्रकार संध्योपासना हो सकती है । जागृतिका प्रारंभ और जागृतिकी समाप्तिका तात्पर्य साधारण रीतीसे समजना चाहिए, अर्थात् जाग आनेके पश्चात शौच, मुखमार्जन, स्नान आदि करके संध्योपासना करना चाहीए; तथा दिनके सब व्यवहारोंसे निवृत्त होकर निद्राके विश्रामके पूर्व संध्योपासना करना चाहीए । यह नियम सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो सकता है । स्मृतियोंके वचन अपने हिंदुस्थान देशके समयके लिये बहुत ही अच्छे हैं । इस लिये इस देशके लोक तथा इस प्रकारका दिनविभाग जहां होगा, वहांके लोक इसी प्रकार संध्या करें । विशेषतः प्रभातका समय ध्यान आदिके लिये बहुत ही अच्छा होता है । इस समयका एकान्त, शांति, प्रसन्नता, आदि गुणबाहुल्य इतना है, कि इस देशमें इस प्रभात और प्रातःकालके समयसे भिन्न कोई अन्य समय इसके बराबर नहीं हो सकता । इसी प्रकार थोडे रूपमें सांय समय है । इस कारण स्मृतिकारोंकी आज्ञा इस देशके व्यवहारके अनुसार बहुतही अच्छी है । इस लिये जहांतक संभव हो वहां तक इस देशमें कोई मनुष्य संध्या करनेके लिये समयका उल्लंघन न करे । और समयके गुणोंसे अवश्य लाभ उठावे । यह संध्या

करनेवालोंका अनुभव है कि प्रातःकालमें जिस प्रकार चित्तकी प्रसन्नता शीघ्र साध्य होती है उस प्रकार अन्य समय नहीं हो सकती। इस कारण समयकी अनुकूलतासे अवश्य लाभ प्राप्त करना चाहिए।

(३) संध्या दिनमें कितनी वार करना चाहिए।

दिनमें कितनी वार संध्या करना चाहिए यह एक बडा भारी प्रश्न है। कई लोक तीनवार संध्या करनेके पक्षमें हैं, और दूसरे दोवार संध्या करनेके लिये अपनी संमति देते हैं। तीन वार संध्या करनेवाले दो वार संध्या करनेके विरोधी नहीं हो सकते। संध्योपासना यह शुभ कर्म होनेसे यदि किसी को फुरसत होगी और वह भद्रपुरुष दो से अधिकवार संध्योपासना करने लगेगा, तो उसको कोई शास्त्र प्रतिबंध नहीं कर सकता। अच्छी प्रकार संध्योपासना करनेके लिये कमसे कम दो घंटका समय लगता है। सवेरे शाम चार घण्टेका समय व्यतीत करनेके पश्चात् यदि कोई भद्रपुरुष बीचका समय संध्योपासनाके लिये निकाल सकता है, और अधिक आनंद प्राप्त करता है, तो बेशक करे। परंतु यहां प्रश्न ऐसा है कि इस विषयमें वेद की संमति क्या है? इस विषयमें निश्न मंत्र देखीए—

दिनमें तीन वार उपासना।

मम त्वा सूर उदिते मम मध्यंदिने दिवः।
मम प्रपित्वे अपिशर्वरे वसवा स्तोमासो अवृत्सत॥

ऋ. ८।१।२९

हे (वसो) सर्व निवासक ईश्वर! (सूर उदिते) सूर्यका उदय होनेके समय (मम स्तोमासः) मेरे स्तोत्र (त्वां) तुमको

(अवृत्सत) प्राप्त करते हैं । (दिवः मध्यंदिने) दिनके मध्य-दिनमें (मम) मेरी प्रार्थना तेरे लिये होती है। और (अपि-शर्वरे) सायंकालके (प्रपित्वे) दिनके अंतके समयमें (मम) मेरी उपासना तेरे लिये होती है। अर्थात् मैं दिनमें तीन वार तेरी उपासना करता हूं। तथा—

उतायातं संगवे प्रातरह्नो मध्यंदिन उदिता सूर्यस्य ॥
दिवा नक्तमवसा शंतमेन नेदानीं पीतिरश्विना ततान ॥

ऋ. ५।७६।३

हे (अश्विनौ) अश्विनी देवो ! (उत अह्नः प्रातः) निश्चयसे दिनके प्रातःकालमें (सं–गवे) गायका दोहन करनेके समय (आयातं) आइए। (उदिता सूर्यस्य) सूर्य उदय होनेके बाद (मध्यं दिने) मध्य दिनके समय आइए। तथा (दिवा नक्तं) दिन और रात्रीके संधिसमयमें (शं–तमेन अवसा) शांतियुक्त संरक्षणके साथ आइए। (इदानीं) इस समय (पीतिः न ततान) संरक्षण सर्वत्र फैला नहीं है ॥ इस मंत्रमें अश्विनीदेवों-की उपासना दिनमें तीनवार कही है। 'अश्' अर्थात् व्यापक देवताका नाम अश्विन् है। धन ऋण्, अथवा स्त्रीपुरुष (Negative and Positive) आदि द्वंद्व शक्तियोंसे युक्त होनेके कारण उस एक देवताका नाम '**अश्विनौ**' अर्थात् 'दो अश्वि-देव' है जिसकी तीन वार उपासना उक्त मंत्रमें कही है। तथा—

यदद्य सूर उद्यति प्रियक्षत्रा ऋतं दध ॥
यन्निम्रुचि प्रबुधि विश्ववेदसो यद्वा मध्यंदिने दिवः ॥

ऋ. ८।२७।१९

हे (प्रिय–क्षत्राः) क्षत्रियो ! (सूर उद्यति) सूर्यके उदयके समय अर्थात् (प्रबुधि) जागनेके समय (यत्) यदि आप

(विश्व-वेदसः) सर्वज्ञानीके अर्थात् ईश्वरके (ऋतं) मंत्रकी (दध) धारणा करेंगें, (यत् निम्रुचि) यदि सूर्यके अस्तके समय करेंगें, (यत् वा) और (दिवः मध्यं दिने) दिनके मध्यमें करेंगे, तो आप (अद्य) आजसेही ऋतका धारण करनेवाले बन जांयगे ॥ इस मंत्रमें दिनमें तीन वार उपासना करनेका उल्लेख है तथा इसमें एक बात विशेष कही है, कि उपासना '**प्रबुधि**' अर्थात् प्रबोध समयमें करना चाहिए। निद्राकी समाप्ति होकर जाग आनेका जो समय होता है वह '**प्रबोध' समय** कहलाता है। जागृतिके समयकी अपेक्षासे आरामके समयसे पूर्व एक वार संध्या करना चाहिए ऐसा स्वयं अर्थ निष्पन्न होता है। इससे स्पष्ट है कि वेदने सार्वदेशिक संध्याका समय सूचित किया है। तथा—

मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यं दिनं परि ॥
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे ॥

अथर्व. ६।१०८।५

'सायंकाल, प्रातःकाल और दिनके मध्यमें सूर्यके किरणोंके साथ तथा अपनी वाक्शक्तिके साथ मेधा नामक धारणावती बुद्धिको धारण करते हैं'। इस प्रकार तीन वार उपासना करनेका विचार वेदमें लिखा है। तथा—

यदद्य सूर उदिते यन्मध्यं दिन आतुचि ॥
वामं धत्थ मनवे विश्ववेदसो जुह्वानाय प्रचेतसे॥

ऋ. ८।२७।२१

यदि आप सूर्यके उदयके समय, मध्यदिनके समय, तथा (आतुचि) सायंकालके समय (विश्ववेदसः) सर्वज्ञ ईश्वरका (वामं) वंदनीय स्तोत्र (मनवे) मननके लिये, (प्रचेतसे)

चिंतनके लिये और (जुग्हानाय) स्वीकारके लिये (धत्थ) धारण करेंगें, तो आप (अद्य) आजही श्रेष्ठ बनेंगे । तथा—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यं दिनं परि ॥
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ।

ऋ. १०।१५१।५

' प्रातःकालमें, दो प्रहरके समय, तथा सूर्यके अस्त होनेके समय हम सब श्रद्धा देवीकी प्रार्थना करेंगे, कि हे श्रद्धादेवी ! हम सबके अंदर श्रद्धा स्थापन करो । '

इस ' श्रद्धा मंत्र ' की तुलना पूर्वोक्त ' **मेधां सायं** ' इस ' मेधामंत्र ' के साथ कीजिए । तथा ' **यदद्य सूर उदिते** ' इस मंत्रकी पूर्वोक्त इसके सदृश मंत्रके साथ तुलना कीजिए । इन मंत्रोंका भाव प्रायः समान ही है । कुछ थोडीसी विशेषता है जो मंत्रोंके शब्दोंका विचार करनेसे पाठक स्वयं जान सकते हैं । इस प्रकार दिनमें तीनवार उपासना करनेके विषयमें वेदकी संमति है । अब दिनमें दो वार उपासनाका उल्लेख निम्न मंत्रों में देखीए—

दिनमें दो बार उपासना ।

हवे त्वा सूर उदिते हवे मध्यं दिने दिवः ॥
जुषाण इन्द्र सप्तभिर्न आगहि ॥

ऋ. ८।१३।१३

" हे (इन्द्र) प्रभो ! (त्वा) तेरी (सूर उदिते) सूर्योदयके समय (हवे) प्रार्थना करता हूं । तथा (दिवः मध्यं दिने) दिनके मध्यमें (हवे) प्रार्थना करता हूं । हमारे (सप्तभिः) सातों इंद्रियों द्वारा (जुषाणः) सेवन किया हुआ तू (नः) हमारे पास (आगहि) आओ । "

यद्यपि इस मंत्रमें केवल दो वार उपासनाका उल्लेख है तथापि यह मंत्र तीन वारकी उपासनाका निषेध करनेवाला नहीं है। यह बात स्पष्ट है क्योंकि केवल प्रकाशके समयकी उपासना इस मंत्रमें वर्णित होनेके कारण केवल दो वारका उल्लेख इस मंत्रमें होना अत्यंत स्वाभाविक है। इसी प्रकारका निम्न मंत्र देखीए—

प्रातर्देवीमदितिं जोहवीमि मध्यं दिन उदिता सूर्यस्य ॥
राये मित्रावरुणा सर्वतातेळे तोकाय तनयाय शंयोः ॥

ऋ. ५।६९।३

"मैं (देवीं अ-दितिं) स्वतंत्रता देवीकी (प्रातः) प्रातःकालमें (जोहवीमि) उपासना करता हूं। तथा (सूर्यस्य उदिता) सूर्योदयके पश्चात् (मध्यं दिने) मध्यदिनमें उपासना करता हूं। (सर्व-ताता) सबकी उन्नतिके व्यापक कर्मोंमें, जिससे (तोकाय तनयाय) बालबच्चोंको (शं-योः) आराम और आरोग्य प्राप्त होता है उस प्रकारके यज्ञमें, (राये) ऐश्वर्यकी वृद्धिके लिये मित्र और वरुणकी (ईळे) स्तुति प्रार्थना और उपासना करता हूं।

इस मंत्रमें '**अ-दिति**' देवीकी दो वार उपासना प्रतिदिन वर्णन की है। '**दिति**' का अर्थ Bondage, बंधन, दासत्व, प्रतिबंध, खंडन है। अर्थात् '**अ-दिति**' का अर्थ freedom, स्वाधीनता, स्वातंत्र्य, बंधन रहित होना, दासभावसे दूर होना, अखंडनीयताका धारण, इत्यादि प्रकार होना है। वैयक्तिक स्वाधीनताका तथा सामाजिक, सामूहिक अथवा सार्वजनिक स्वातंत्र्यका विचार दिनमें अवश्य करना चाहिए; क्योंकि स्वातंत्र्यके विचारसे, अर्थात् मुक्तिके मननसे ही, मनुष्यके अंदर बंधन दूर करनेके भाव आते हैं और येही भाव मनुष्यत्वका विकास

करनेवाले हैं। अस्तु। इस प्रकार दिनमें दो वार ध्यान करनेका उपदेश वेदमें है। परंतु स्मरण रहे की यह पूर्वोक्त तीन वारके उल्लेख का विरोधक नहीं है। इसका हेतु पूर्व स्थलमें दिया ही है। अब चार वार उपासनाका उल्लेख देखिए—

प्रतिदिन चार वार उपासना।

नमः सायं नमः प्रातर्नमो राज्या नमा दिवा ॥
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ॥

अथर्व. ११।२।१६

"(भवाय) सबके उत्पादक और (शर्वाय) दुःख निवारक ईश्वरके लिये सायंकाल, प्रातःकाल, रात्रीके समय तथा दिनके समय मैं नमन (अकरं) करता हूं।" अर्थात् (१) **प्रातः**-प्रातः कालके समय, (२) **सायं**-सायंकालके समय, (३) **दिवा**-दिनके मध्यमें, तथा (४) **राज्या**-रात्रीके समय, इस प्रकार प्रतिदिन चार वार सर्व जगन्नियंता परमेश्वरको नमन करना चाहिए।

"**सायं, प्रातः, दिवा, राज्या**'! ये चार शब्द चार विभागोंके बोधक हैं। योगी जन जो विशेष प्रकारसे आत्मिक उन्नति चाहते हैं वे चार वार योगाभ्यास करते हैं। ये चार समय योगके पुस्तकोंमें प्रसिद्ध हैं। विशेष पुरुष जो इसी योगाभ्यास आदिको करना चाहते हैं, उनके लिये प्रतिदिन चार वार अभ्यास पूर्वक ध्यानधारणा करना योग्य है। परंतु जो लौकिक व्यवहारमें पडे हैं, और लौकिक व्यवहारका साधन करते हुए आत्मिक उन्नति धीरे धीरे करना चाहते हैं, उनके लिये प्रतिदिन तीन अथवा दो वार उपासना लिखी है। ऐसा इन मंत्रोंका विचार करनेसे प्रतीत होता है।

इन वेद मंत्रोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है, कि प्रतिदिन दो, तीन और चार वार उपासना करनेका उल्लेख वेदमें है।

(१) **प्रातःकाल,** (२) **दोपहर, दिनका मध्य समय,** (३) **सायंकाल और** (४) **रात्रीका समय;** ये चार उपासनाके समय हैं। **दिन** पुरुषार्थका समय है और **रात्री** आराम और विश्रामका समय है। पुरुषार्थ करनेका प्रारंभ करनेके पूर्व ईश्वरोपासना करके मन प्रशांत और उदात्त बनाकर विविध पुरुषार्थ करनेका प्रारंभ करना उचित है, प्रातःकालसे दिनके मध्य तक अपना कार्यव्यवहार करनेके पश्चात् थोडे समयमें ईश्वर उपासना करनेसे जो उत्साह और आनंद प्राप्त होता है, उससे दिनके शेष समयमें अपना कार्यव्यापार करनेके लिये निःसंदेह मनकी योग्यता और कार्यक्षमता अधिक होती है। प्रातःकालकी संध्यासे दिनके पुरुषार्थ शुद्ध रीतीसे करनेके लिये मनकी तैयारी होती है, इसी प्रकार सायंकालकी संध्योपासनासे रात्रीका आराम और विश्राम प्राप्त करनेकी योग्यता उपासकके मनमें उत्पन्न होती है। इस लिये कमसे कम प्रातःकालमें और सायंकालमें अर्थात् दिनमें दो वार अवश्य संध्योपासना करना चाहिए, ऐसी शास्त्राज्ञा और परिपाठी भी है। दोसे अधिकवार संध्योपासना करनेका कहीं भी निषेध नही है और उक्त मंत्रोंमें अधिक वार उपासनाकी स्पष्ट सूचना है। इस लिये प्रति दिन दोवार आवश्यक और तीन अथवा चार वार ऐच्छिक संध्योपासना करना वेदानुकूल है।

यद्यपि मंत्रोंके आधारसे मैनें पूर्वोक्त अनुमान किया है तथापि इस विषयमें अधिक खोज होनेकी आवश्यकता है। स्वाध्यायशील पाठकोंको उचित है कि वे इस विषयका विचार निःपक्षपातकी वैदिक दृष्टीसे करें, और वेदमंत्रोंके आधारसे जो पद्धति

स्पष्ट सिद्ध होती है, उसको मानें क्यों कि वैदिक पद्धति ही सब मनुष्योंका सच्चा हित करनेवाली है। दुराग्रहसे धर्मका नाश होता है और निःपक्षपात पूर्वक सुविचारके अनुष्ठानसे धर्मका परिपालन होनेके कारण सब मनुष्योंकी उन्नति होती है।

(४) संध्या कहां करना चाहिए ?

संध्या करनेके लिये किसी विशेष स्थानादिकी आवश्यकता है या नहीं यह आशय इस प्रश्नका है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखीए--

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् ॥
धिया विप्रो अजायत ॥ १५ ॥

यजु. २६।१५

"(उपन्हरे) पहाडोंकी भूमीपर, और नदियोंके संगमपर बैठकर (वि-प्रः) ज्ञानी लोक (धिया) धारणायुक्त बुद्धिसे (अजायत) उन्नतिको प्राप्त करते हैं।" अर्थात् धारणाध्यान आदि करनेकेलिये पहाडोंके सुंदर स्थान, तथा नदियोंके मनोहर संगम बहुत लाभदायक होते हैं। ज्ञानी लोक यहां बैठकर योगसाधन करते हुए आत्मिक उन्नतिको प्राप्त करते हैं। यह बात यहां सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है, कि पहाडोंके गंभीर दृश्य और नदियोंके आल्हादकारक स्थान चित्तकी एकाग्रता करनेके लिये बहुत सहायता कर सकते हैं। इन स्थानोंमें स्वभावतः विशालता, गंभीरता, और प्रसन्नता होनेके कारण मनकी एकाग्रता होनेमें बहुत सहायता होती है।

सुंदर उद्यान, मनोहर तालाव, प्रशस्त और रमणीय वाटिका आदि स्थानोंमें भी पूर्वोक्त प्रकार सुगमतासे मन उपासनामें लीन हो सकता है। परंतु सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये सदासर्वदा

इस प्रकारके स्थान ईश्वरोपासना करनेके लिये प्राप्त होना बहुत कठीन है, इस लिये अपने घरमेंही योग्य और पवित्र स्थान संध्या के लिये ही बनाना आवश्यक है। जो कमरा स्वच्छ, पवित्र, सुंदर और रमणीय बनाया जा सकता है, जो केवल संध्याके लिये ही रखा जा सकता है, जिस में विषयोप भोग आदिके कृत्य किये नहीं जाते, जो शीतोष्ण कालोंमें विशेष शीत और विशेष उष्ण नहीं होता, जिसमें चूहे आदिके बनाये बिल आदि नहीं हो सकते, इस प्रकारका कमरा केवल संध्योपासनाके लिये रखना चाहिए।

यदि अपने घरके चारों ओर बाग, उद्यान अथवा पुष्पवाटिका होगी तो बहुत अच्छा है। परिस्थितिके वशात् न होगा, तो नगरके बाहर कोई ऐसा रम्य स्थान होगा, तो उसका उपयोग करना। इनके अभावमें अपने घरका कमरा संध्याके लिये सजाना चाहिए। जहां मर्जी चाहे बैठकर जिस किसी समयमें संध्याके मंत्र पढनेसे संध्याका वास्तविक आनंद प्राप्त नहीं हो सकता।

अपने घरका कमरा यदि उत्तर दिशाकी ओर होगा तो बहुत अच्छा है, क्यों कि घरका उत्तर दिशाका भाग गर्मीमें बहुत नहीं तपता। इस कमरेके लिये विशेषकर पूर्व पश्चिमकी ओर प्रशस्त खिडकियां रहनीं चाहिए, जिससे सूर्योदय सूर्यास्तकी अभिनंदनीय शोभाका आनंद उपासकको प्राप्त हो सकेगा। यह कमरा अंदर और बाहरसे स्वच्छ, सुंदर और पवित्र बनाना चाहिए। अंदरके कोने, जमीन, दिवार और छत निर्मल रखनेका यत्न सदा करना चाहिए। बाहरसे भी किसी प्रकारका मलीनता युक्त वायु आदि न आने पावे। अर्थात् मल—मूत्र विसर्जन करनेके स्थान तथा दूसरे दुर्गंधके स्थान पास

न हों। इस प्रकारका कमरा केवल संध्याके लिये ही रखना चाहिए। अर्थात् इस कमरेके अंदर ऐसे ही पदार्थ रखे जावें कि जिनका उपयोग परमेश्वरके भजनपूजनके ही काममें होता है। इस कमरेकी दिवारोंकी सजावटके लिये वेदमंत्रोंके उत्तम वाक्य, तथा साधुसत्पुरुषोंके उपदेशके वाक्य सुंदर अक्षरोंमें लिख कर लगाने चाहिए। जिस किसी दिशामें दृष्टि जावे उस स्थानमें उपदेशके ही वाक्य नजर आना चाहिए। इस कमरेके लिये चित्रोंकी सजावटकी भी बडी आवश्यकता है। चित्रोंका महत्व उपदेशके कामके लिये बहुत है; क्यों कि पढे लिखे आदमीही ग्रंथ पढ सकते हैं, परंतु अनपढ मनुष्यभी चित्रोंको समझ सकते हैं।

पूर्व दिशाकी दिवार पर ऐसे चित्र रखने चाहिए कि जिनमें सूर्यका उदय, छोटे उत्साही बालकोंकी क्रीडा, प्रफुल्लित वृक्ष आदिके चित्र हों, अर्थात् जो उत्साह, जागृति और उदयकी सूचना कर सकते हैं, ऐसे ही चित्र रखने चाहिए; इस लिये कि पूर्वदिशा जागृतिकी दिशा समझी जाती है। दक्षिण दिशा की दिवार पर शूरवीर क्षत्रिय आदिकोंके चित्र हों, जो अपने दाक्षिण्यमय व्यवहारसे मृत्यूकी पर्वाह न करते हुए जनताकी उन्नतिके लिये अपने आपका समर्पण कर रहे हैं, मृत्युका चित्र इसी ओर रखना चाहीए; जिसमें प्राणिमात्रके मृत्युका स्पष्ट निदर्शन किया गया हो। अपने पीछे मृत्यु लगा है इस बातका स्मरण होवे, तथा परोपकारके कर्म करते हुए मरना चाहिए, यह भाव मनमें स्थापन हो सके, ऐसे चित्र यहां लगाना उचित है। पश्चिम दिशाकी ओर ऐसे चित्र लगाने चाहिए कि, जिनमें शांत समुद्र, पानीके रम्य नहर, नदी, तालाव आदिके दृश्य हों, धनधान्य, फलफूलकी समृद्धि आदि दिखाई हो। उत्तर दिशाकी दिवार पर ऐसे चित्र लगाने चाहिए कि जिनमें प्रयत्नसे उन्नति प्राप्त करनेका

भाव स्पष्ट होता है, अधिक उच्च अवस्था प्राप्त करनेके लिये सत्पुरुष जो जो प्रयत्न करते हैं, उनकी सूचना इन चित्रोंसे मिल सके। साधुसत्पुरुष, जो आत्मिक उन्नतिमें निमग्न रहते हैं, उनके चित्र यहां रखे जावें। पाठक यहां ध्यान देंगे कि दक्षिण दिशामें क्षात्र तेज और मृत्यु दर्शाया है और उत्तर दिशामें ब्राह्मतेज और आत्मिक आनंद दर्शाया है। पूर्व दिशामें जागृति और पुरुषार्थ करनेका उत्साह बताया है, तथा पश्चिम दिशामें निवृत्ति और आरामका प्रदर्शन किया है। अलंकारकी दृष्टिसे ये दिशायें इन बातोंकीं सूचनाएं देतीं हैं, इस बातका ज्ञान विचारसे पाठक जान सकते हैं। यदि छतपर चित्र लगाने हों तो ऐसे चित्र होने चाहिए कि, जिनमें दिव्य आत्मिक शक्ति मनुष्योंको प्राप्त होकर उनका उद्धार हो रहा है। ऐसे उत्तम दृश्य साधारण घरोंमें छतपर नहीं रखे जा सकते। जो बडे बडे धनिकोंके प्रासाद होते हैं उनमें ही इस प्रकारके चित्र छतपर होना संभव है। दिवारोंपर इन चित्रोंके अतिरिक्त उत्तम उत्तम संस्मरणीय वाक्य, बोधदायक मंत्र अथवा उपदेशपर शब्द लिखना चाहिए। तात्पर्य कमरेके अंदर आत्मिक उन्नतिका वायु-मंडल बनानेका यत्न करना चाहिए। और ऐसे कोई पदार्थ नहीं रखना चाहिए कि जो इस वायुमंडलको दूषित कर सकते हैं।

इस देवघरके अंदर पुस्तक, बर्तन, तथा अन्य सामान उतनाही रखना चाहिए, कि जिसका उपयोग उपासनाकेही काममें हो सकता है। स्नान करके धोये हुए स्वच्छ कपडे पहन कर ही इस कमरेके अंदर प्रवेश करना चाहीए। और प्रवेश करनेके समय यह विचार मनमें दृढ रखना चाहिए कि, **" मैं पवित्र स्थानपर जा रहा हूं, मेरे पास कोई अपवित्र विचार नहीं रहेगा, अब मेरे आत्माका परमात्माके साथ योग होगा।"** इस प्रका-

रकी मनकी भावना रखकर ही कमरेके अंदर प्रवेश करना चाहिए। मनकी भावनाका परिणाम बहुत विलक्षण होता है। कमरेके अंदर जाते ही द्वार बंद करके अपनी उपासना प्रारंभ करना चाहिए, और इससमय कोई अन्य विरुद्ध विचार मनमें धारण करना उचित नहीं है। क्योंकि विषम विचार सब आनंदका घात करता है।

उक्त प्रकारका स्थान संध्या करनेके लिये न मिलनेकी अवस्थामें जो कोई स्थान प्राप्त होगा, उसीमें बैठकर संध्या करना योग्य है। अपने नियत समयका अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। तथा मेरा विश्वास है कि हरएक अवस्थाका मनुष्य यदि प्रयत्न करेगा, तो अपने योग्य एकान्तका स्थान संध्याके लिये अपने घरमें बना सकता है। परंतु निश्चयसे प्रयत्न करना चाहिए। शहरोंके तंग मकानोंमें रहनेवाले गरीब मनुष्योंके लिये बडी मुष्कील हो सकती है। परंतु ग्रामोंमें रहनेवाले सुगमतासे अपने स्थान बना सकते हैं। शहरनिवासियोंके लिये सार्वजनिक '**संध्या मंदिर**' बनने चाहिए, जहां लोक जाकर संध्या कर सकें।

(९) संध्याका समय और स्थान।

संध्याका समय और स्थान निश्चित होना उचित है। अपने भारत देशमें प्रातःकाल ब्राम्हमुहूर्तका समय सबसे अच्छा है, सायंकालका सूर्यास्तका समयभी उत्तम है। आजकल सायंकालमें भ्रमण आदिके लिये लोक जाते हैं, इसलिये सायंकालका सूर्यास्तका समय बहुत करके लुप्त हो गया है। परंतु उक्त दो समय यदि अतिक्रांत न होंगे तो बडा अच्छा हैं।

ब्राम्हमुहूर्तका समय इतना अच्छा है कि इस समय यमनियम आदि स्वयंसिद्ध होते हैं। इस समयमें हिंसा कोई नहीं करता,

दूसरे मनुष्यके साथ संबंध न आनेके कारण असत्य बोलनेका अवसर नहीं होता है, चोरभी अपनी चोरीसे निवृत्त होते हैं, कामी पुरुष अपने कामोपभोगसे निवृत्त होते हैं, इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि सब यमनियम स्वयंसिद्ध रहनेके कारण सब वायुमंडल अशुद्ध विचारोंसे दूषित नहीं रहता। इसलिये यह समय सबसे उत्तम समझा गया है।

यदि किसी मनुष्यको कोई अन्य समय अनुकूल प्रतीत होता हो, तो वह अपनी अनुकूलताके अनुसार अपना समय और स्थान निश्चित करे और उसी समयमें तथा उसी स्थानमें बैठकर संध्या करे। आज सवेरे, कल दोपहरको, परसूं किसी अन्य समयमें, इस प्रकार समय और स्थानका परिवर्तन करनेसे मनकी वृत्ति चंचल होती है। स्थान और समयका नियम चित्तवृत्तिकी स्थिरता करनेमें निःसंदेह सहायता देता है। सर्वत्र अनियमसेही चंचलता बढती है।

यहां पाठकोंको एक बातकी सूचना देना आवश्यक है कि, नियमोंके पालन करनेके अभ्याससेही मनुष्योंकी उन्नति हो सकती है अन्यथा नहीं। तमाखू, मद्य आदि दुर्व्यसन करनेवाले मनुष्य अपने नियत समय परही अपने दुर्व्यसनके पदार्थोंको चाहते हैं। नियत समय पर अफीम न मिलनेसे अफीमबाज दुर्व्यसनी मनुष्य कैसे पागल हो जाते हैं, यह सबको विदित है। इससे ज्ञात हो सकता है कि समयके नियमका प्रभाव मन पर कितना है। दुर्व्यसनोंके विषयमें दुराचारी मनुष्योंके मनकी जो अवस्था होती है वह ही अवस्था सदाचारी मनुष्योंकी सत्कृत्योंके विषयमें होती है। क्यों कि दोनोंके मनोंके धर्म एक जैसे ही होते हैं।

ठीक समय पर संध्या करनेके, निष्ठा और श्रद्धायुक्त, अभ्याससे उपासनामें मन इतना जम जाता है, कि किसी कारण किसी

दिन समयका अतिक्रमण होने लगा, तो मन अस्वस्थ होता है। संध्याके समयका अतिक्रमण होनेसे अकृत्रिम अस्वस्थता मनमें उत्पन्न होना चाहिए। मानसिक उन्नतिकी यह एक सीढी है। इसलिये हरएक मनुष्यको जहांतक हो सके वहांतक संध्याके समय और स्थानका नियम करना योग्य है। जो मनुष्य सदा भ्रमण करते रहते हैं, उनके लिये स्थानका नियम करना अशक्य है, परंतु वे समयके नियमका पालन कर सकते हैं। यदि प्रसंगवशात् समयका नियम टूटने लगेगा, तो एक दो मिनिटतक ठीक समय पर आंख बंद करके '**गुरुमंत्र**'का जप करनेसे समयके नियमका पालन होनेमें बडी सहायता होती है। ऐसी अवस्थामें समय प्राप्त होनेपर पूर्ण संध्या की जा सकती है। रेलमें अथवा सभामें बैठनेके समय इस युक्तिसे निर्वाह हो सकता है।

(६) संध्यामें आसनका प्रयोग।

अष्टांग योगमें '**आसन**' तीसरा अंग है। आसनोंसे शरीरके नसनाडियोंकी शुद्धि और सब शरीरमें रुधिरका उत्तम संचार होनेसे शरीरका उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त होता है। इसलिये संध्या करनेसे पूर्व विविध प्रकारके आसन अवश्य करना चाहिए। आसनोंके दो प्रकार हैं। (१) एक निरोगता देनेवाले आसन और (२) दूसरे ध्यान धारणाके साधक आसन। निरोगता देनेवाले आसन अनेक हैं। ध्यानधारणाके साधक आसन दो चार ही हैं। '**आसन**' विषयपर स्वाध्यायमंडलद्वारा सचित्र पुस्तक तैयार हो रहा है। उसमें इस विषयका विस्तारपूर्वक विचार किया है, इसलिये यहां इसका विस्तार करना उचित नहीं है।

केवल ध्यानके लिये आरामके साथ निश्चित बैठनेकी आवश्यकता है। बैठनेके लिये जमीनपर चौकी आदि रखकर, उस

पर चटाई किंवा दर्भका आसन, उसपर ऊनी आसन, और उसपर सफेद निर्मल सूती चादर रखना चाहिए। जिससे आसन नरम और बैठनेके लिये आनंददायक होता है। केवल ऊनी कपडा खुर्दरा होनेसे सूती चादरके विना ठीक नहीं होता। आसन नरम और बैठनेके लिये हितकारक होना चाहिए।

इसपर विशेष रीतीसे बैठना योगसाधनमें '**आसन**' नामसे प्रसिद्ध है। सिद्धासन, पद्मासन आदि आसन प्रसिद्ध हैं कि जो ध्यानधारणाके लिये ही हैं। ध्यानधारणाके समय हाथ घुटनोंपर रखना अथवा बीचमें एक दूसरेपर जोडकर रखना वैयक्तिक रुचीपर निर्भर है। परंतु सबसे मुख्य बात यह है कि, पीठ, गर्दन और मस्तक समरेखामें होना चाहिए। अर्थात् यदि दिवारके साथ बैठा जावे तो पीठ, और सिर पीछेसे दिवारको लगना चाहिए और गला सीधा रहना चाहिए। इसका तात्पर्य इतनाही है कि, पीठके सूल, पिंडलीकी हड्डियोंकी माला, रीढ की हड्डियां, समरेखामें रहनीं चाहिए।

पीठ तेढी रखकर योगका साधन नहीं हो सकता। इसलिये योगी सदा सर्वदा अपने पीठकी हड्डियोंको सीधा ही रखते हैं। बैठने, चलने, सोने, आदी समय रीढकी हड्डियोंको समसूत्रमें रखते हैं। जो मस्तकके मगजमें शक्ति रहती है वह ही रीढकी हड्डियोंमें फैली है। इसलिये पीठके रीढमें तेढे पन होनेसे न केवल विविध बीमारियां होतीं हैं परंतु बुद्धिकी धारणाशक्तिका भी ऱ्हास होता है। इसलिये '**समं काय-शिरोग्रीवं।** (गीता)' शरीर, सिर और गर्दन समरेखामें रखकर योगसाधन करना चाहिए, ऐसा भगवद्गीतामें स्पष्ट कहा है। इस प्रकार सीधेपीठसे बैठनेके अभ्याससे आरोग्य प्राप्त होता है तथा बुद्धिकी भी वृद्धि होती है।

इसप्रकार बैठकर ध्यानधारणा करना उचित है। कई लोक पीठको गोल करके संध्या करने बैठते हैं जिससे उनके स्वास्थ्यका तथा बुद्धिका बडा नुकसान होता है। इसलिये पीठको समसूत्रमें रखकर संध्या करना उचित है। अन्य आसनोंका विचार स्वतंत्र पुस्तकमें देखीए।

(७) प्राणायामका महत्व।

संध्यामें प्राणायामका महत्व बडा भारी है। प्राणायाम, उत्तम प्रकारके आसनोंके साथ, सिद्ध होनेसे, मृत्युको दूर किया जा सकता है अर्थात् प्रणायामसे आरोग्य प्राप्त होकर दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है।

प्राणायामसे फेंपडोंमें शुद्ध हवा पहुंचती है वहां रक्तके साथ, उसका संबंध होकर, रक्त शुद्ध होता है, और रक्त शुद्ध होनेसे सब प्रकारकी नीरोगता प्राप्त हो सकती है।

प्राणका मनके साथ निकट संबंध है। प्राणकी चंचलताके-साथ मन चंचल होता है, और प्राणकी स्थिरतासे मन स्थिर होता है। इस कारण मनकी एकाग्रताकेलिये प्राणके स्वास्थ्यकी बडी-भारी आवश्यकता है। यह ही प्राणायामका महत्व है। अर्थात् प्राणायाम न केवल शारीरिक आरोग्य अर्पण करता है प्रत्युत मानसिक उन्नतिकाभी मार्ग खुला कर देता है।

प्राणायाम करनेके समय मनकी भावना ऐसी करना चाहिए कि “ मैं प्राण अंदर लेनेके समय विश्वव्यापक प्राण शक्तिको अंदर लेता हूं। यह विश्वव्यापक प्राणशक्ति मेरे अंदर आकर सब प्रकारका स्वास्थ्य, आरोग्य आयु और आनंद दे सकती है। यह परमात्माकी दिव्यशक्ति है, और इससे सब प्रकारकी उन्नति हो सकती

है।" प्राणायाम करने तक इस प्रकारकी मानसिक भावना विश्वासपूर्वक धारण करना उचित है। अविश्वासी मनुष्यको उन्नतिकी आशा करना व्यर्थ है। संशयका धारण करनेवाला नाशको प्राप्त होता है। धर्मकी शक्ति श्रद्धामय अंतःकरणके अंदर ही बढती है। इसलिये संध्याके समय श्रद्धाको अवश्य अपनेपास करना चाहिए।

प्राणायामका विस्तार पूर्वक सचित्र पुस्तक तैयार हो रहा है। पाठक उसमें प्राणायामकी विशेषताको देख सकते हैं।

(८) संध्याके अन्य विधि।

आचमन, इंद्रियस्पर्श, मार्जन, अवमर्षण, मनसा परिक्रमण, उपस्थान, गुरुमंत्रजप, नमन इतने विधि संध्यामें आसन प्राणायामोंके अतिरिक्त हैं। हरएक विधिका तात्पर्य मनकी शुद्धि, मनमें उत्तम श्रेष्ठ विचारोंकी स्थापना, मनकी स्वाधीनता और एकाग्रता, मनकी शांति, चित्तकी प्रसन्नता, बुद्धिके विकासका साधन करके आत्मोन्नति प्राप्त करनेमें है।

आचमनसे कंठकी शुद्धि होती है; **इंद्रियस्पर्श** करनेसे प्रत्येक इंद्रिय और अवयवके विषयमें अपना कर्तव्य पालन करनेकी जागृतिकी सूचना मिलती है; **मार्जनसे** अंतर्बाह्य शुद्धताके विचारकी जागृति होकर दोषोंको दूर करनेकी शक्ति प्राप्त होती है; **अघ-मर्षणसे** अपने किये हुए दोषोंको स्वीकार करनेका धैर्य प्राप्त होकर स्वकीय दोषोंका दंड आनंदके साथ भोगनेकी मनकी तैयारी होनेके कारण सदैव चित्तकी प्रसन्नता रहती है; **मनसा परिक्रमणसे** सर्व सृष्टीका मानसिक विचार-शक्तिसे अवलोकन होनेके कारण सर्व सृष्टिमें परमेश्वरीय न्यायप्रवर्तक शक्तिका अनुभव प्राप्त होता है, और सत्पुरुषोंका सन्मान करने और दुर्जनोंका

तिरस्कार करनेकी न्यायप्रियता मनके अंदर विकसित होती है; **उपस्थानमें** उसी परमेश्वरकेपास पहुंचनेके साधनरूप उपासनाका कार्य है; **गुरुमंत्रजपमें** उसी दिव्य परमात्माके दोष-विनाशक और सर्व प्रेरक शक्तिका ध्यान है, जिस जपसे परमेश्वरीय शक्तिका निदिध्यास होनेसे जीवात्मामें परमेश्वरीय श्रेष्ठ गुणोंकी स्थापना होती है। अंतमें **नमन** द्वारा सब संध्योपासनाकी समाप्ति होती है। इस प्रकार संध्याका तात्पर्य है। इस प्रत्येक विधिका विस्तृत स्पष्टीकरण आगे आनेवाला है, जिसको देखनेसे पाठक जान सकेंगे कि इस प्रत्येक विधिमें कितने उच्चभाव हैं और इन विधियोंसे मनुष्योंकी उन्नति किस प्रकार हो सकती है।

(९) विशेष दिशाकी ओर मुख करके ही संध्या करना चाहिए या नहीं ?

विशेष दिशाकी ओर मुख करनेसे कोई लाभ हो सकता है या नहीं ? यह प्रश्न बड़ा विकट है। शीघ्रतासे इसका उत्तर देनेका साहस मैं नहीं कर सकता। कुतुबनुमा जो कि लोहचुंबककी सुई होती है, सदा उत्तर दक्षिण दिशाके साथ ही रहती है। लोहचुंबककी सुई जडपदार्थ है, मनुष्यके समान उसमें दृश्य आत्मशक्ति और मनन शक्ति नहीं है। इस प्रकारके जड पदार्थको सदा नियममें रखनेवाली एक शक्ति उत्तर दक्षिण दिशामें सदा संचार करती रहती है, जिसके कारण चुंबककी सुई सदा दक्षिण उत्तर दिशामें ही रहती है। यदि जड पदार्थोंको इस प्रकार स्वाधीन रखनेवाली शक्ति उत्तर दक्षिण दिशाओंमें विद्यमान है,तो संभव है कि इस शक्तिका मनुष्यपर भी कुछ न कुछ परिणाम होता होगा, क्यों कि मनुष्यका मन बिजुलीसे बना है, और उत्तर दक्षिण

भ्रमण करनेवाली उक्त शक्ति बिजुली ही है जो उक्त चुंबक सूईको दक्षिणोत्तर रखती है।

सूक्ष्म शक्तियां इस जगतमें बहुत हैं। जिनका परिज्ञान मुझे नहीं है। इस समयतक विद्युत आदि अनेक सूक्ष्म शक्तियोंका ज्ञान वैज्ञानिकोंको हुआ है, परंतु उनका मनुष्यके ऊपर क्या परिणाम होता है, इस विषयका ज्ञान इस समयतक पूर्णतया किसीको नहीं है। जिस प्रकार उत्तर दक्षिण दिशामें विद्युतका प्रवाह चलता रहता है, उस प्रकार अन्य दिशाओंसे किसी अन्यशक्तिका वेग चलता है वा नहीं इसका ज्ञान अभीतक किसीको नहीं है। कई कहते हैं, कि पृथ्वीके पूर्व पश्चिम दैनिक भ्रमणके कारण इन दिशाओंमें भी कुछ विशेष शक्तियोंका उत्कर्ष अपकर्ष होना संभव है। परंतु यह सब तर्क ही है। प्रत्यक्ष ज्ञान इस विषयमें अभीतक किसीको प्राप्त नहीं हुआ। इस लिये विशेष दिशाकी ओर मुख करनेका कोई विशेष परिणाम मनुष्य पर होता है वा नहीं, इसका निश्चय नहीं कहा जा सकता। इस विषयमें विशेष खोज होनेकी आवश्यकता है।

शास्त्रग्रंथोंमें उत्तर और पूर्वदिशाकी ओर ही मुख करनेकी आज्ञा है। दक्षिण दिशाकी ओर मुख करनेकी आज्ञा किसी धर्म पुस्तकमें नहीं है। सायं संध्याके अतिरिक्त अन्य कोई धार्मिक कार्य पश्चिमदिशाकी ओर मुख करके करनेकी आज्ञा किसी धर्म पुस्तकमें नहीं है। मेर विचारमें इसका कोई विशेष हेतु होगा, परंतु उसको मैं नहीं जानता।

कई कहते हैं कि पूर्वदिशाकी ओर मुख करनेसे अपनी छाया पीठकी ओर पीछे पडती है, इसलिये सूर्यकी ओर देखकर संध्या करनेका विधान है। सवेरे पूर्वदिशाकी ओर और शामको पश्चिम-

दिशाकी ओर मुख इसीलिये किया जाता है। कई बडे विद्वान अपने व्याख्यानों तथा लेखोंमें यह हेतु बताते हैं। परंतु यह कोई विशेष हेतु नहीं हो सकता। वास्तवमें देखा जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि सूर्यके द्वारा जो प्राणशक्ति सब जगतमें फैलाई जा रही है, उस प्राणशक्तिको मानसिक इच्छा शक्तिके द्वारा अपने अंदर लेनेकी सुगमता होनेके लिये ही सूर्यकी ओर मुख किया जाता है, न की अपनी छायाको पीछे रखनेके लिये। मेरे विचारसे पूर्व पश्चिम दिशाकी ओर प्रातःसायं संध्याके समय मुख करनेका यही हेतु है। कदाचित और भी कोई प्रबल हेतु होगा। खोज करनेसे ज्ञात होना संभव है।

पूर्व पश्चिम दिशाकी ओर मुख करनेकी असंभावना होनेके समय दोनों कालमें उत्तर दिशाकी ओर मुख करनेकी विधि है। इसका हेतु अबतक मेरे ध्यानमें नहीं आया है। भौतिक दृष्टिसे दक्षिण दिशाकी ओर शक्तिकी क्षीणता और उत्तर दिशाकी ओर शक्तिकी अधिकता प्रतीत होती है। दक्षिण देशमें लोक कमजोर हैं और उत्तर दिशामें बलवान हैं। मनुष्योंके चालचलन, खान-पान, और सबलता निर्बलता आदिका संबंध उत्तर और दक्षिण-दिशाके साथ कुछ विशेष प्रकारसे हैं ऐसा प्रतित होता है। सर्व साधारण अशक्तता दक्षिण दिशामें प्रतीत होती है और सर्व-साधारण सबलता उत्तर दिशामें दिखाई देती है। कश्मीरके लोक सबल और गोरे तथा मद्रासके लोक निर्बल और काले हैं। इसी प्रकार अन्य भेदभी बहुत हैं।

कोई कारण हो, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं की, उत्तर दिशाकी ओर उत्तमताका प्रमाण अधिक है और दक्षिण दिशाकी ओर वैसा नहीं है। जो इसमें अज्ञात कारण होगा उसी कारणसे उत्तर दिशाकी ओर मुख करनेकी आज्ञा शास्त्रोंमें दी होगी।

संभव है कि कोई विशेष कारणभी होगा। यदि कोई विद्वान कोई अन्य कारण प्रदर्शित कर सकते हैं तो अवश्य प्रकाशित करें। वेदमें दिशा विषयक कई मंत्र संदिग्ध हैं, उनका स्पष्टीकरण इन बातोंके परिज्ञानसे कदाचित होना संभव है। आशा ह कि विचारी विद्वान इस विषयकी खोज करेंगे।

(१०) स्वभाषामें संध्या क्यों न की जावे?

परमेश्वरकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना हरएक भाषामें की जा सकती है। यह कोई नहीं कह सकता, कि केवल संस्कृत भाषाके शब्दोंसे तथा मंत्रोंसे की हुई स्तुति प्रार्थना परमेश्वर जान सकता ह, अन्य भाषाके द्वाराकी हुई नहीं जान सकता। परमेश्वर सर्वव्यापक और सर्वज्ञ होनेसे तथा जीवात्माके साथ उसका साक्षात् संबंध होनेसे शब्दोच्चारके पूर्वही मनोगत भावोंको वह जान सकता है। इससे स्पष्ट है कि उसकी स्तुति प्रार्थना उपासना हरएक मनुष्य अपनी अपनी जन्मभाषामें कर सकता है। यदि वास्तवमें ऐसी बात है, तो वेदमंत्रोंका उच्चार संध्यामें करनेकी क्या आवश्यकता है? ऐसा प्रश्न यहां उत्पन्न हो सकता है।

साधारण लोक जो भाषा बोलते हैं, उसी भाषामें साधु संत अपने काव्य करते हैं। तथापि साधारण लोकोंके मुखद्वारा उच्चारित वाक्यों की अपेक्षा, साधुसंतोंके वाक्य सहस्रों वर्षोंतक लोक विशेष आदरकी दृष्टीसे स्मरण करते रहते हैं। यहां सोचना चाहिए कि साधुसंतोंकी वाणीसे निकले हुए वाक्योंमें जो पवित्रता और प्रामाण्य सहस्रों वर्षोंतक हजारों पुरुष मानते रहते हैं, यह क्यों? कौनसी विशेषता उन आप्त पुरुषोंके वाक्योंमें रहती है?

साधुसंतों और महात्माओंके वाक्योंमें कुछ न कुछ विशेषता है इसमें संदेह नहीं। यदि न होती तो साधारण जनोंके वाक्योंके

समान उनको भी कोई न मानता। साधुसंतोंके अंदर जो दिव्य दृष्टि होती है वह साधारण जनों में नहीं होती। इस प्रकार दृष्टिमें भेद रहनेसे वाक्यके अर्थकी गंभीरता में भी विशेष भेद होता है और इसी कारण आप्त पुरुषोंके वाक्योंका अथवा साधुसंतोंके वाक्योंका सर्वत्र विशेष प्रामाण्य समझा जाता है।

अनुभवकी दृष्टीसेभी संतोंके वाक्योंके शब्द बहुत तुले हुए प्रतीत होते हैं। मेरा यह कथन नहीं है, कि हरएक संतका हरएक वाक्य चिरस्मरणीय है। परंतु साधारण रीतीसे देखनेसे पत्ता लग जाता है, कि संतोंके वाक्योंमें कुछ न कुछ असाधारणता रहती है। यदि हम साधारण लोकोंकी भाषामें और संतोंके वाक्योंमें भेद जान सकेंगें, तो हमें अपनी भाषामें की हुई स्तुतिप्रार्थना और दिव्य मंत्रोंद्वारा की हुई स्तुतिप्रार्थनाके भेदका पता लग जायगा। ऋषियोंके अंतःकरणोंमें परमेश्वरके स्फुरणसे जो मंत्र आविष्कृत हुए हैं, उनका अर्थगांभीर्य हमारी की हुई स्तुतिप्रार्थनाके वाक्योंमें नहीं आसकता, यह बिलकुल स्पष्ट है।

इसके अतिरिक्त वैदिकमंत्रोंके शब्दोंकी कुछ विशेषता असाधारण ही है। '**आपः**' शब्द '**जल**' वाचक होता हुआ '**व्यापक परमात्म–शक्ति**'का बोधक है इस प्रकारके शब्द प्रयोग जैसे वेदमें हैं, हमारी देशीभाषामें नहीं हैं।

'**आपः**' यह एकही शब्द जलका बोध करता हुआ उपासकको परमात्मातक पहुंचा सकता है। वह बात देशीभाषामें नहीं हो सकती। इसलिये अर्थज्ञानपूर्वक वेदमंत्रों द्वाराकी हुई संध्या निःसंदेह विशेष लाभ दे सकती है। वह लाभ केवळ मंत्रके भाषांतरसे भी नहीं हो सकता।

संध्याके मंत्रोंमें केवल स्तुति प्रार्थनाके अतिरिक्त जो अन्य बातें हैं, उन सबका कार्य देशी और प्रांतीय भाषाके भाषांतरोंसे

नहीं हो सकेगा। अथवा हमारी स्वकीय स्तुति प्रार्थनासे तो कभी नहीं होगा।

श्रेष्ठ विचारोंको मनके सन्मुख रखनेका साधन जैसा वेदमंत्रों-द्वारा हो सकता है वैसा किसी अन्य भाषाके वाक्यसे नहीं हो सकता। वेदका एक ही वाक्य जैसा विविध उच्चभावोंका प्रदर्शन कर सकता है, वैसा प्रांतीय भाषाका वाक्य नहीं कर सकता। वेदका '**इंद्र**' शब्द '**जीवात्मा, राजा और परमात्माका**' बोध कर सकता है; उसका भाषांतर किसी भाषामें यदि किया जावे, तो उसके ये तीन अर्थ वहां प्रकट होना सर्वथा असंभव है। जो इस प्रकारकी अर्थकी गंभीरता वेदमें है उसी कारण वैदिक मंत्रोंका महत्व इस समय तक स्थिर रहा है।

वेदका परिज्ञान होनेके लिये न केवल संस्कृत भाषाके ज्ञानकी आवश्यकता है, प्रत्युत वैदिक विचार सरणीको जाननेकी भी बडी आवश्यकता है। जो लोक इस वैदिक विचार सरणीको नहीं जान सकते, उनको वैदिक मंत्रोंकी उच्चताका ज्ञान देना उतना ही कठिन है, कि जितना गान विद्यासे अनभिज्ञ मनुष्यको बड़े गवय्येके गायनके रसास्वादका परिचय देना कठिन है। अस्तु। इस विचारकी दृष्टीसे पाठक जान सकते हैं कि, संध्याके मंत्रोंसे क्या लाभ होता है और देशी भाषामें संध्या करनेसे कहां तक लाभ हो सकता है।

(११) संध्याके विविध भेद।

आजकल संध्यामें विविध भेद हुए हैं। ऋग्वेदी संध्या, यजुर्वेदी संध्या आदि प्रकारसे प्रत्येक वेदके प्रत्येक शाखाकी अलग अलग संध्या मानी और समझी जातीहै। विद्यमान शाखाके अनुयायी

लोक अपने अपने संप्रदायके अनुसारही संध्या करते हैं। इस कारण संध्या जैसे पवित्र अनुष्ठानमें भी अनंत भेद हो गये हैं !!

वास्तवमें देखा जायगा तो चारों वेदोंको मिलाकरही पूर्ण ज्ञान होता है। प्राचीन कालमें आर्योंमें चारों वेदोंका अध्ययन हुआ करता था। प्रत्येक मनुष्यको चारों वेदोंका अध्ययन आवश्यक है। "(१) **पवित्र विचार**, (२) **पवित्र कर्म**, (३) **चित्तकी एकाग्रता और** (४) **ब्रह्मज्ञान**" ये चार विषय क्रमशः चार वेदोंके हैं। इन चारोंके समुच्चयसेही मनुष्यमात्रकी उन्नति साध्य होती है। इस लिये प्रत्येक वेदको अलग अलग मानना, इतनाही नहीं, परंतु हरएक शाखाको भिन्नभिन्न समझना, सर्वथा अनुचित है। इस कारण आजकलके सांप्रदायिक संध्याभेद, अवैदिक होनेसे, मानने अयोग्य हैं।

आजकलके संध्याभेदमें 'केशवादि नामोंसे आचमन' किया जाता है। यह संप्रदाय अत्यंत आधुनिक होनेसे निःसंदेह अवैदिक है। सूर्यके लिये अर्घ्य प्रधानका विधि भी वैसाहि अवैदिक है। इसी प्रकार बीसियों आधुनिक श्लोक संध्याके अंदर घुसेड दिये हैं जिनका वास्तविक संध्याविधिके साथ कोई संबंध नहीं है। आरण्यक जैसे ग्रंथोंसे उद्धृत किये श्लोक भी, जो आजकलके संध्याके अंदर पाये जाते हैं, बड़े विलक्षण हैं; देखिए।

उत्तमे शिखरे जाते भूम्यां पर्वत-मूर्धनि ॥
ब्राह्मणेभ्योऽभ्यनुज्ञाता गच्छ देवि यथा सुखम् ॥

तै. आ. प्र. १०।३६॥ आश्व. गृ. १

" पर्वतके शिखर पर, पहाडके चोटी पर अथवा उत्तम भूमीमें जने हुए देवी ! अब तू ब्राह्मणोंसे आज्ञा प्राप्त करके जहां सुख हो वहां जाओ।" गायत्रीको उद्देश करके यह श्लोक बोला जाता

है। परंतु यहां विचार इतना ही करना है कि गुरुमंत्रका '**गायत्री छंद**' है न की यहां कोई गायत्री देवी विद्यमान है, जो आती है और जाती है। छंदोंमें **गायत्री, हरिणी** आदि छंद हैं। इन छंदोंसे प्राणियोंका बोध नहीं लेना है। इसी प्रकार बीसियों श्लोक ऐसे हैं कि जिनका संध्यासे कोई संबंध नहीं है, परंतु आजकलके सांप्रदायिक संध्यामें पढे जाते हैं। सब श्लोकोंकी अयुक्तता बतानेके लिये हमारे पास यहां स्थान नहीं है, और न इस प्रकारके विवादकी यहां आवश्यकता है। एक ही बात ध्यानमें धरनेसे सब कार्यभाग हो सकता है, वह बात यह है कि, जो वेदसंहिताके मंत्र हैं, वे ही संध्योपासनामें रखने योग्य हैं, अन्य श्लोक किसी प्रयोजनके नहीं हैं, इतनाही नहीं परंतु अन्य सांप्रदायिक श्लोक आत्मिक उन्नत्तिके साधक भी नहीं हैं।

जिसप्रकार उक्त गायत्रीके विषयमें, उसको '**गाय**' समझ कर उसका पहाडपरसे आना और फिर वहां जाना लिखा है, उसी प्रकार अन्य श्लोकोंमें है। इस लिये सांप्रदायिक संध्यावालोंको भी उचित है, कि वे अपनी संध्यामेंसे अन्य श्लोकोंको अलग करें और केवल वेदके मंत्रोंसे ही संध्या करते जांय।

(१२) यह संध्या वैदिक है वा नहीं ?

जो संध्या इस पुस्तकमें दी है यह वैदिक है वा नहीं ? यह प्रश्न कई विद्वान पूछते हैं। यह संध्या सूत्रोक्त है। इसमें यद्यपि '**वाक् वाक्। भूः पुनातु शिरसि।**' इत्यादि वाक्य वेद मंत्रके नहीं हैं, तथापि '**वाङ्म आसन्**' आदि अथर्ववेदके मंत्रसे उद्धृत होनेके कारण उक्त वाक्य वैदिक ही हैं। क्योंकि प्रत्येक वाक्यका संबंध साक्षात् अथर्ववेदके मंत्रोंसे है। इस बातका पूर्ण वर्णन आगे स्पष्टीकरणमें आनेवाला है। इसलिये यहां केवल

दिग्दर्शन किया है। इनके अतिरिक्त शेष सब मंत्र वेदकेही हैं, इसलिये यह सूत्रोक्त संध्या शुद्ध वैदिक संध्या है।

कई कहते हैं कि '**वाक् वाक्। भूः पुनातु शिरसि।**' आदि वाक्य वेदमंत्रमें न होनेके कारण इस संध्याको '**वैदिक संध्या**' कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्नके उत्तरमें निवेदन है कि '**प्रतीक सूचना**' से वैदिक मंत्र सूचित करनेका प्रकार वेदमें है और उसके अनुसार उक्त वाक्य प्रतीकसूचनाके हैं। जैसा—

हिरण्यगर्भ इत्येषः। मा मा हिंसीदित्येषा॥

यजु. अ. ३२।३

वास्तवमें '**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे०**' इत्यादि वेदमंत्र है। उसकी सूचना '**हिरण्यगर्भ इत्येषः**' इस प्रतीक द्वारा दी है। इस प्रकार यजुर्वेदमें कई मंत्र प्रतीकोंसे सूचित किये हैं। मंत्रका एक अथवा अनेक शब्द उद्धृत करके मूलमंत्रकी सूचना देनेका प्रकार वेदमें है। उक्त प्रकारके अनुसार '**वाक् वाक्**' आदि प्रतीक '**वाङ्म आसन्**' इस मंत्रका सूचक है। इसी प्रकार अन्य शब्द अन्यमंत्रोंके सूचक हैं। '**भूः**' आदि सप्त व्याहृति तथा '**खं ब्रह्म**' आदि शब्द वेदके विविध मंत्रोंके सूचक हैं। देखीए—

(१) भूर्भुवः स्वः। सुप्रजाः प्रजाभिः स्यां सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः॥ यजु. ३।३७;७।२९;८।५३;

(२) भूर्भुवः स्वः। लाजीञ्छाचीन्यव्ये गव्य एतदन्न मत्त देवा एतदन्नमद्धि प्रजापते॥ यजु. २३।८;

(३) भूर्भुः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ यजु.॥ ३६।३

इत्यादि मंत्र ' भूर्भुवः स्वः ' के प्रतीकसे सूचित होते हैं।

' (१) सत्ता, ज्ञान और आनंद प्राप्त करना है। उत्तम संतानोंसे प्रजावाले, उत्तम शूरतासे शूर और उत्तम पुष्टिसे पुष्ट बन जांयगे। (२) सत् चित् आनंद प्राप्त करना है। इस लिये हे विद्वानों और प्रजापालको! (लाजीन्) भुना हुआ धान्य (शाचीन्) तथा छिलका उतारा हुआ धान्य (यव्ये) जौ आदि तथा (गव्ये) गोरस, दूध, दही, मख्खन, घी आदि (एतद् अन्नं) यही अन्न (अत्त) खाइए। यही भोजन कीजिए। (३) सत्व, सुविचार और आनंद प्राप्त करना है। इस लिये उस श्रेष्ठ परमेश्वरके दुःख विनाशक तेजका हम सब ध्यान करते हैं, जो हम सबके बुद्धियोंको प्रेरणा देता है।'

' भूः पुनातु शिरसि, भुवः पुनातु नेत्रयोः, स्वः पुनातु कण्ठे।' इन वाक्योंमें आये हुए 'भूर्भुवः स्वः' ये प्रतीक उक्त मंत्रोंके सूचक हैं। इन प्रतीक सूचित मंत्रोंसे निम्न बातोंका उपदेश मिलता है। (१) सुप्रजा निर्माण करना चाहिए, (२) वीरोंके साथ रहना चाहिए, (३) हृष्टपुष्टोंके साथ चलना चाहिए, (४) भुना और पकाया हुआ धान्य तथा गोरस भक्षण करके हृष्टपुष्ट और नीरोग होना चाहिए, (५) परमात्माकी उपासना करना चाहिए। इसीसे अस्तित्व, ज्ञान और आनंद प्राप्त होकर शुद्धि होती है।

' भूः सिरकी पवित्रता करे ' इस वाक्यसे प्रश्न उत्पन्न होता है कि, किस प्रकार पवित्रता करे? इस प्रश्नका उत्तर इन मंत्रों द्वारा मिलता है। पवित्रताकी प्राप्तिके लिये (१) उत्तम संगति (२) उत्तम भोजन और (३) उत्तम भक्ति चाहिए। इनसे पवित्रता प्राप्त होती है। तथा **' महः '** से सूचित मंत्र देखीए—

इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तं राधसो महः ॥
रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिं रयिं ॥
यजु. १२।११०

“ (अध्वरस्य) हिंसा रहित सत्कर्मका (इष्कर्तारं) प्रचारक (प्रचेतसं) उत्तम ज्ञानी, (राधसः महः) सिद्धिदायक महत्वका (क्षयन्तं) निवास करानेवाला, (वामस्य) इष्टका (सुभगां रातिं) उत्तम दान देनेवाला (महीं इषं) बडी प्रबल इच्छा और (सानसिं रयिं) विजय देनेवाले संपत्तिका, (दधासि) धारण करता है । ” इस मंत्रमें ‘ **महः** ’ का स्वरूप और उसके सहचारी गुणोंका वर्णन है । (१) निर्दोष कर्म, (२) उत्तम ज्ञान, (३) सिद्धिका महत्व, (४) उत्तम दातृत्व, (५) प्रबल इच्छा, (६) विजय युक्त धन ये छे महत्वके साथी हैं !

‘**महः पुनातु हृदये**’ अर्थात् महत्व हृदयकी पवित्रता करे । इस वाक्यसे सूचित किया है कि निर्दोष कर्मसे, उत्तम ज्ञानसे, सिद्धिके महत्वसे, दानसे, प्रबल इच्छाशक्तिसे तथा विजयी धनसे मेरा हृदय पवित्र होवे । हृदयकी पवित्रता करनेके ये साधन हैं । ‘ **जनः** ’ के विषयमें देखीए—

(१) मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो वि महसः ॥
स सुगोपातमो जनः ॥ यजु. ८।३१

(२) इन्द्रवायू सुसंदृशा सुहवेह हवामहे ॥
यथा नः सर्व इज्जनोऽनमीवः संगमे
सुमना असत् ॥ यजु. ३३।८६

“ (१) (यस्य क्षये) जिसके आश्रयसे (दिवः वि महसः) दिव्य महत्वको बढानेवाले (मरुतः) प्राण (पाथाः) सुरक्षित

रखते हैं (स जनः) वह ही जनन शक्तिवाला मनुष्य (सु–गो–पा–तमः) अत्यंत उत्तम रीतीसे अपने इंद्रियोंका संरक्षण करनेवाला होता है।" अर्थात् जो प्राणायामका साधन करता है और अपने इंद्रियोंका उत्तम रीतीसे संरक्षण करता है, वह ही उत्तम प्रजा उत्पन्न कर सकता है। (२) पूजनीय और प्राशव्य इंद्र अर्थात् आत्मा और वायु अर्थात् प्राण इनका हम सब स्वीकार करते हैं, जिससे (सर्वः जनः) सब प्रजा उत्पन्न करनेवाले लोक निश्चयसे (अनमीवः) नीरोग (सुमनाः) उत्तम मनवाले और (नः संगवे) हम सबके संगतिसे रहनेवाले (असत्) हो जावें। अथात् आत्माकी उपासना और प्राणायामसे सब लोक निरोग, उत्तम विचारी और एक मतसे रहनेवाले होकर सुप्रजा निर्माण कर सकते हैं।

इस मंत्रमें "**सु–गो–पा–तमो जनः**" ये शब्द मनन करने योग्य हैं। (सु) उत्तम रीतीसे (गो) इंद्रियोंका (पा) संरक्षण करनेवाला (जनः) सुप्रजा उत्पन्न करनेवाला मनुष्य। यह शब्द इंद्रिय संयम और मनोनिग्रह आदिका उपदेश कर रहा है। पाठक इस मंत्रका अधिक विचार करें। '**जनः पुनातु नाभ्यां**' जनन शक्ति नाभिस्थानकी पवित्रता करे। इस मंत्रका अर्थ इन मंत्रोंकी संगतिसे खुलता है। (१) प्राणायाम, (२) इंद्रिय निग्रह (३) और आत्मपरीक्षणसे जनन शक्तिकी तथा जनन स्थानकी शुद्धि होती है। अब '**तपः**' का विचार कीजिए—

तपसः तनूरसि ॥ यजु. ४।२६

'यह शरीर तप करनेके लिये है।' सत्कर्म करनेके समय होनेवाले कष्ट आनंदसे सहन करनेका नाम तप है। तथा—

अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि ॥ यजु. ३७।११

'तू तेज, प्रकाश और तप है।' अर्थात् तपके साथ तेजस्विता और स्वयं प्रकाश रहता है। तथा—

त्वं रयिं पुरुवीरामु नस्कृधि
त्वं तपः परितप्याजयः स्वः ॥ ऋ. १०।१६७।१

'तू (पुरुवीरां) सर्व शौर्ययुक्त धन (नः) हम सबको दो तथा तू तप तपकर (स्वः अजयः) आनंदका विजय करो।' धनके साथ सब प्रकारका शौर्य प्राप्त करना चाहिए। तथा तपसे सबकी प्रतिष्ठा है जैसी शरीरकी प्रतिष्ठा पांवोंके कारण होती है। प्रतिष्ठा का यहां धारणासे तात्पर्य है।

'सत्यं' और **'खं ब्रह्म'** के विषयमें यहां लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। इनका महत्व सब जानते हैं। अस्तु। इस प्रकार प्रतीकोंसे सूचित मंत्रोंका विचार करके बोध लेना चाहिए। प्रत्येक व्याहृति पूर्वोक्त मंत्रोंमें विशेष हेतुसे रखी है और उस प्रत्येकका संबंध वेदके कई मंत्रोंके साथ है। इसका दिग्दर्शन यहां किया है। सब मंत्रोंकी संगति लगाकर सब व्याहृतियोंका विचार करनेसे बहुत उपदेश प्राप्त हो सकता है। आशा है इस प्रकार पाठक विचार करेंगे।

इससे स्पष्ट है कि इस संध्यामें आये सब व्याहृति आदिके शब्द विशेष हेतूसें रखे हैं और एक एक शब्दके पीछे कई मंत्र खडे हैं। इस प्रकार व्याहृतियोंका विलक्षण संबंध है। जिसको देखनेसे बडा आनंद प्राप्त हो सकता है। तात्पर्य जो संध्याके वाक्य वेदके नहीं है वे इस प्रकारसे वहां रखे हैं कि उनसे कई वैदिक मंत्रोंकी सूचना मिल सकती है। इस लिये यह सब संध्या वैदिक है इसमें कोई संदेह नहीं है।

(१३) संध्या करनेवाले उपासकके मनकी तैयारी ।

संध्या करनेवाले उपासकको उचित है कि वह अपने मनकी निम्न प्रकार भावना करे और किसी प्रकारकी संदेहकी वृत्ति न रखे ।

(१) मैं आत्मा हूं और मैं शरीरसे भिन्न हूं । मैं शरीर, इंद्रिय, मन आदिका स्वामी हूं तथा मन आदि सब इंद्रियों और अवयवोंका प्रेरक हूं ।

(२) ज्ञान, मनन, विचार, दर्शन, स्वभाव, भावना, कल्पना, तर्क, इच्छा आदि सब शक्तियोंको मैं प्रेरित करूंगा । मैं इनको इस प्रकार चलाऊंगा कि इनके द्वारा अपनी सदैव उन्नति होती रहेगी । मैं इनको अपने आधीन रखूंगा । इनके आधीन मैं कभी नहीं होऊंगा । मैं इनका स्वामी और चालक हूं और ये सब शक्तियां मेरे आधीन रहकर मेरा कार्य करनेवालीं हैं । और मैं इनसे कार्य लेनेवाला स्वामी हूं ।

(३) मैं जानता हूं कि मैं इनके आधीन यदि हो गया तो ये सब मिलकर मेरा नाश करेंगे । जब तक इनको मैं काबू रखूंगा तब तक ही मेरी उन्नतिका मार्ग मेरे लिये खुला रहेगा ।

(४) स्वाधीनता, संयम, दमन करनेसे मेरी शक्ति बढती है । इनके आधीन हो जानेसे पराधीनता होनेके कारण दुःखकी प्राप्ति निश्चयसे होनी है । इस लिये अपनी स्वतंत्रताका संरक्षण करना मेरा धर्म है ।

(५) मैं प्रतिदिन वेदका अध्ययन और मनन करूंगा, योगका साधन करके शारीरिक, मानसिक और आत्मिक स्वास्थ्य प्राप्त करूंगा । मेरा निश्चय सदा स्थिर रहेगा । मेरे अंदर चंचलता नहीं रहेगी ।

(९) मैं सदा प्रयत्न शील रहूंगा। यहां पुरुषार्थ प्रयत्न करता हुआ सौ वर्ष जीनेका यत्न करूंगा। दीनताको दूर करके सदा उत्साहको पास रखूंगा।

इस प्रकारके विचारोंसे मन परिपूर्ण रखना चाहिए। 'मैं हीन और दीन हूं' ऐसा कहनेवाले संध्यासे लाभ नहीं उठा सकते। मनुष्य भावनामय होनेसे जसे विचार मनमें रखता है वैसा बनता है। 'मैं दीन हूं' ऐसा सदा कहनेवाला मनुष्य '**अदीनाः स्याम शरदः शतं**' (मैं सौ वर्षपर्यंत दीनतासे राहत हो जाऊंगा), ऐसा कहनेका अधिकारी नहीं हो सकता। इस विषयमें वेदकी भाषा स्पष्ट है। संध्याके मंत्रोंमें ही अंतमें "**मैं सौ वर्ष जीऊंगा, सौ वर्ष ज्ञानका उपदेश सुनूंगा, सौ वर्ष प्रवचन करूंगा, सौ वर्ष उत्साही रहूंगा, इतना ही नहीं, परंतु सौ वर्षसे अधिक आयुतक जीवित रहूंगा।**" यह वेद-मंत्र जिस प्रकारकी उत्साहकी भाषा बोल रहा है; उसी प्रकारकी भाषा बोलना वैदिक धर्मियोंका कर्तव्य है। हीन दीनता युक्त शब्द बोलना महापाप है।

(१४) क्या ऐसा माननेसे घमंड नहीं होती ?

"**मैं शूर रथी हूं और यह शरीर मेरा रथ है। इस रथको इंद्रियरूप घोडे जोते हैं। मन। सारथी है जो मेरे अनुसार रथ चलाता है।**" इत्यापि भाव जो वेद और उपनि-षदोंमें लिखे ह, ये घमंडके भाव नहीं हैं।

"**मैं अपने मनका प्रवर्तक हूं और अपनी इच्छा शक्तिसे जिस योग्य मार्गसे चाहूं मनको चला सकता हूं**' इस प्रका-रकी भावना रखना घमंड नहीं है।

साधारण लोक स्वाधिकार, आत्मसंमान और घमंडमें भेद नहीं करते। क्या उनके मतसे उक्त वेदवाक्य तथा उपनिषद्वाक्य घमंडसे भरे हैं? कदापि नहीं। वेद वाक्य जिस प्रकारकी भाषा प्रयुक्त करते हैं, उसी प्रकारकी भाषा सबको बोलना चाहिए। मेरा यहां तात्पर्य संस्कृत भाषासे नहीं है। जिस प्रकारकी भावना वेदोंके मंत्र प्रदर्शित करते हैं, उस प्रकारकी भावना हमको अपनी भाषामें प्रदर्शित करना चाहिए। अन्य मत मतांतरोंके संस्कार होनेके कारण हमारे मनमें विपरीत विचार हो गये हैं, इस लिये हमें विपरीत बातें अच्छीं लगतीं हैं, और योग्य उपदेश विपरीत प्रतीत होता है!!!

(१९) अंतिम प्रार्थना।

पाठकोंसे अंतिम प्रार्थना इतनीही है कि वे इन बातोंका विचार करें तथा संध्याके स्पष्टीकरणमें लिखे हुए अनुष्ठान विधिको अच्छी प्रकार आचरणमें लावें। स्वयं सोचने और अनुष्ठान करनेसे सब बातोंका ठीक ठीक पता लग सकता है। आर्योंके वैदिक धर्ममें संध्याका अनुष्ठान दैनिक होनेके कारण अत्यंत महत्व पूर्ण है। दिनमें कमसे कम दो वार जिस विधिका अनुष्ठान अत्यंत आवश्यक है, उस विधिकी ओर इस समय तक जैसा ध्यान जाना चाहिए वैसा बहुतोंका गया नहीं है, यह बडी शोककी बात है।

जहांतक संभव हुआ वहां तक मैनें इस पुस्तकमें ऐसीं ही बातें रखीं हैं कि जिनका अनुभव मैनें अथवा मेरे मित्रोंनें लिया है। केवल कहने सुननेकीं बातें लिखीं नहीं है। जो मंत्र उच्च भूमिकाके तत्वोंका आविष्कार कर रहे हैं, उनका स्पष्टीकरण करनेके समय अपने अज्ञान की अवस्था स्पष्ट लिखी है। इसलिये

कि जो आगे बढे हैं वेही उन बातोंका स्पष्टीकरण कर सकते हैं। हमारे जैसे साधारण लोकोंकी वहां गति नहीं है। तथा जो बात जानी नहीं है, उसको शब्दोंको मरोड मरोड कर बतानेसे कोई लाभ नहीं हो सकता।

इस समय संध्यापर बहुत पुस्तक रचे गये हैं। परंतु यह पुस्तक नवीन रीतीसे ही लिखी है। इस कारण इसमें न्यूनतायें भी बहुत रह गईं होंगी। इन न्यूनताओंको दूर करनेका कार्य सब प्रकारसे पाठकोंका है। संध्याका विषय अनुभवका होनेसे और सब बातोंका अनुभव मुझे न होनेके कारण दोषके स्थल बहुत रहे हैं। जो जो पाठक अपना अनुभव भिन्न रीतीसे ले चुके हैं, अथवा जिन्होनें इन मंत्रोंका भिन्न रीतीसे विचार किया होगा, उनको उचित है कि वे अपना अनुभव तथा अपनी रीती विस्तारपूर्वक प्रसिद्ध करें। सबके विचारोंका अनुशीलन करनेसे ही मनुष्यका ज्ञान बढ सकता है।

इस पुस्तकमें शब्दोंके तथा मंत्रोंके अर्थोंमें प्रचलित अर्थसे थोडासा मत भेद प्रदर्शित किया है। इस समय तक जिन जिन शब्दोंका जो जो अर्थ समझा जाता था, वह अन्य पुस्तकोंमें पाठक देख सकते हैं। कई वर्षोंके विचारसे जो अर्थ मुझे अच्छा प्रतीत होता हैं, वह ही मैंनें यहां दिया है। प्रत्येक मंत्र जिस अनुष्ठानके लिये है उसके योग्य अर्थ करनेका प्रयत्न यहां किया है। तथा जिस मंत्रसे जो अनुष्ठान सूचित होता है, उसका पाठ करनेके समय वह क्रिया करना चाहिए, ऐसा स्पष्टीकरणमें स्पष्ट लिखा है।

जो प्रकार इस पुस्तकमें लिखा है उसके अनुसार संध्या करनेसे '**क्रियायक्त संध्या**' करनेका लाभ प्राप्त हो सकता है। केवल

पाठ मात्रसे लाभ होना असंभव है। क्रियाके साथ मंत्र पाठ करनेसे लाभ हो सकता है। इस योगके कथनके अनुसार यह संध्या प्रणाली लिखी है।

कई वर्षोंतक इस प्रकार संध्या करनेसे बहुत लाभ होता है, ऐसा मेरा तथा अपने मित्रोंका अनुभव है। आशा है कि पाठकोंको भी यही अनुभव प्राप्त होगा। अंतमें पाठकोंसे सविनय निवेदन है, कि यदि किसी स्थानपर शंका उत्पन्न होगई तो मेरे पास अवश्य पत्रद्वारा सूचित करें। ताकि मैं उसका विचार करके इस पुस्तककी न्यूतानको दूर करनेका यत्न द्वितीय संस्करणके समय करूंगा।

सबके मिलकर प्रयत्नसे ही सब प्रकारकी उन्नति हो सकती है। इस लिये आशा करता हूं कि इस कार्यमें उपासक लोक अवश्य सहायता देंगे।

औंध (जि. सातारा)
१५।६।२०

श्री. दा. सातवळेकर,
स्वाध्याय मंडळ.

ओ३म्

संध्योपासना।

(१) आचमनं।

(१) ओ३म् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा। तै. आ. १०।३२।१
(२) ओ३म् अमृतापिधानमसि स्वाहा। तै. आ. १०।३५।१
(३) ओ३म् सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा॥

आ. गृ. १।२४।२९ मा. गृ. १।९।१६.

अर्थ--(१) हे (ओ३म्) परमेश्वर! तू (अमृत-उपस्तरणं) अमरपनका आच्छादन है। ऐसा (सु-आह) ठीक कहा जाता है। (२) (ओ३म्) हे परमेश्वर! तू (अमृत-अपिधानं) अमृतका आवरण है। ऐसा (स्व-आह) मेरा आत्मा कहता है। (३) हे (ओ३म्) परमेश्वर! (सत्यं मयि श्रयतां) मेरे अंदर सत्य निष्ठा स्थिर रहे। (मयि यशः श्रयतां) मुझे यश प्राप्त होवे, (मयि श्रीः श्रयतां) मेरे अंदर दिव्य शक्ति स्थिर रहे, और (मयि श्रीः श्रयतां) मेरे आश्रयसे संपत्ति रहे। इस लिये मैं (स्व-आ-हा) अपने सर्वस्वका अर्पण करता हूं॥

मानसिक ध्यान--हे परमेश्वर! तू अपने अमरपनके साथ सब जगतके ऊपर तथा अंदर फैला है, ऐसा जो कहा है वह बिल कुल ठीक कहा है। मेरा आत्मा भी तुह्मारे अमरपनको तथा तुह्मारी सर्वत्र उपस्थितीको मानता और अनुभव करता है। हे ईश्वर! मेरी इच्छा है कि अपने आत्माके अंदर सत्य निष्ठा स्थिर रहे, मेरा यश वृद्धिंगत होवे, मेरी दिव्यशक्ति बढ जावे और मुझे ऐहिक सुखसाधनोंके साथ आत्मिक आनंद प्राप्त होवे। हे परमेश्वर! इस लिये मैं तेर धर्मकार्यके लिये अपने सर्वस्वका अर्पण करता हूं।

(२) अंग-स्पर्शः।

(१) ॐ वाङ्म आस्येऽस्तु। (२) ॐ नसोर्मे प्राणोऽस्तु। (३) ॐ अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु। (४) ॐ कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु। (५) ॐ बाह्वोर्मे बलमस्तु। (६) ॐ ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु। (७) ॐ अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु॥

अर्थ—हे (ॐ) परमेश्वर! (मे आस्ये) मेरे मुखमें पूर्ण आयुतक (वाक्) उत्तम वक्तृत्वशक्ति (अस्तु) रहे। हे परमेश्वर (मे नसोः) मेरी नासिकामें (प्राणः) प्राणशक्ति रहे। ईश्वर! (मे अक्ष्णोः) मेरी आंखोंमें (चक्षुः) देखनेकी शक्ति रहे। हे ईश्वर! (मे कर्णयोः) मेरे कानोंमें (श्रोत्रं) श्रवणशक्ति रहे। हे ईश! (मे बाह्वोः) मेरे बाहुओंमें (बलं) बल होवे। हे ईश! (मे ऊर्वोः) मेरी उरुओंमें (ओजः) शक्ति रहे। तथा हे परमात्मन्! (मे अंगानि) मेरे सब अवयव (अ-रिष्टानि) क्रूर न होते हुए किंवा (अरिष्टानि) हृष्टपुष्ट होते हुए (मे तन्वा सह) मेरे शरीरके साथ अर्थात् (तनूः) मेरे शरीरमें ही पूर्ण आयुकी समाप्तितक (सन्तु) रहें॥

मानसिक ध्यान—हे परमेश्वर! मुझे पूर्ण आयु प्राप्त होवे। और जबतक मेरी आयु होगी तबतक मेरे मुखमें उत्तम वक्तृत्व शक्ति, नासिकामें बलवान प्राणशक्ति, नेत्रोंमें सूक्ष्मदृष्टि, कानोंमें उत्तम श्रवणशक्ति, बाहुओंमें बहुत बल, उरुओंमें वेग और ओज तथा मेरे अन्य अवयवोंमें अन्यान्य शक्तियां उत्तम प्रकारसे रहें। मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं कोई ऐसा विचार, उच्चार अथवा आचार नहीं करूंगा, कि जिसके कारण मेरी शक्तिमें किसी प्रकारकी भी क्षीणता उत्पन्न हो सके। तथा मैं ध्यानपूर्वक ऐसा आचरण करूंगा कि जिससे अपने सब शक्तियोंकी उन्नति हो सकेगी॥

(३) मंत्राचमनम् ।

ओ३म् शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ ॥ शं यो र॒भिस्र॑वन्तु नः ॥

ऋ. १०।९।४ यजु. ३६।१२

[1]**अर्थ**–(देवीः) दिव्य (आपः) जल (नः) हम सबके लिये (शं) शांति देनेवाला तथा (अभिष्टये) सहायता और (पितये) संरक्षण करनेवाला (भवन्तु) होवे । तथा वह जल (नः) हम सबके लिये (शं) शांति और (योः) रोगादिकोंको दूर करनेवाली शक्ति (अभि स्रवन्तु) देवे ॥

मानसिक ध्यान–(आचमन तथा किसी समय जलका सेवन करनेके समय श्रद्धामय विश्वाससे समझना चाहिए कि) यह जल बहुतसे दिव्य गुणोंसे युक्त है। और इसके सेवन करनेसे प्राणिमात्रके लिये शांति, स्वास्थ्य, नीरोगता और रोग दूर करनेकी शक्ति प्राप्त होती है, और सब प्रकारका कल्याण ही कल्याण हो सकता है। इसके सेवन करनसे मुझे भी आरोग्य, आनंद, बल आदि निःसंदेह प्राप्त होगा ॥

---

(१) **अभिष्टिः**—Assistance, help, worship, sacrifice, protection. सहायता, पूजा, यज्ञ, संरक्षण, रक्षा ॥ (२) **पीतिः**—Protection, going, draught. संरक्षण, गमन, हलचल, पान, पीना॥

(४) इंद्रिय--स्पर्शः ।

ओं वाक् वाक् । ओं प्राणः प्राणः ।
ओं चक्षुः चक्षुः । ओं श्रोत्रं श्रोत्रं ।
ओं नाभिः । ओं हृदयम् ।
ओं कण्ठः । ओं शिरः ।
ओं बाहुभ्यां यशो–बलम् ।
ओं कर-तल-कर–पृष्ठे ॥

अर्थ–हे (ओं) परमात्मन्! (वाक्) मेरी वक्तृत्त्वशक्ति दीर्घ आयुकी समाप्ति तक उत्तम अवस्थामें रहे। तथा प्राणशक्ति आंखोंकी दर्शनशक्ति, कानोंकी श्रवणशक्ति दीर्घ आयुकी समाप्ति-पर्यंत उत्तम अवस्थामें रहे । (नाभिः) मेरे नाभिस्थानकी जीवन-शक्ति मेरी पूर्ण आयुतक उत्तम कार्य करती रहे । (हृदयं) मेरे हृदयके अंदर भक्ति दीर्घ आयुकी समाप्ति तक बढती रहे। (कण्ठः) मेरे कण्ठमें मधुर स्वर रहे। (शिरः) मेरा मस्तिष्क अपनी दीर्घ आयुकी समाप्ति तक सुविचारका कार्य करे। (बाहुभ्यां यशो बलं) मेरे बाहुओंमें सदा बल रहे और उसका उपयोग यश बढानेके सत्कार्योंमें होता रहे। (कर तल कर पृष्ठे) मेरे हाथ सदा सत्कार्योंमें पुरुषार्थ करते रहें ॥

मानसिक ध्यान—हे परमात्मन् । मुझे दीर्घ और पूर्ण आयु प्राप्त होवे । और उस दीर्घ आयुकी समाप्ति तक मेरे अंदर वक्तृत्वशक्ति, जीवनकी प्राणशक्ति, उत्तम दृष्टि, श्रवणशक्ति, नाभिकी समानशक्ति, हृदकी भक्ति, स्वरशक्ति, विचारशक्ति, बल, ओजस्विता, पुरुषार्थका उत्साह, यश प्राप्त करनेका उत्साह आदि गुण वास करें । मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं ऐसा कोई कार्य नहीं

करूँगा कि जिससे मेरी कोई भी शक्ति किसी प्रकार क्षीण हो सके। तथा मैं ऐसाही यत्न करूँगा कि मेरी सब शक्तियां विकासको प्राप्त हो सकें ॥

(५) मार्जनम् ।

(१) ॐ भूः पुनातु शिरसि। (२)ॐ भुवः पुनातु नेत्रयोः। (३) ॐ स्वः पुनातु कण्ठे । (४) ॐ महः पुनातु हृदये। (५) ॐ जनः पुनातु नाभ्यां।(६) ॐ तपः पुनातु पादयोः। (७)ॐ सत्यं पुनातु पुनः शिरसि।(८)ॐ खंब्रह्म पुनातु सर्वत्र।

अर्थ—हे (ॐ) परमात्मन् ! (भूः) मेरा अस्तित्व अपने (शिरसि) मस्तिष्ककी (पुनातु) पवित्रता करे । मेरी (भुवः) कल्पना शक्ति अपने नेत्रोंको अर्थात् दृष्टिको पवित्र बनावे। मेरा (स्वः) स्वत्व कंठको अर्थात् वाणीको पवित्र करे । मेरी (महः) महानतासे अपना हृदय पवित्र होवे । मेरी (जनः) जनन शक्ति नाभिस्थानकी शुद्धि करे । मेरी (तपः) कष्ट सहन करनेकी शक्ति पाओंकी शुद्धि करे । मेरी (सत्यं) सत्यनिष्ठा मेरे शिरकी पुनः पुनः पवित्रता करे । तथा (खं ब्रह्म) आकाशवत् सर्वव्यापक ओंकार वाच्य ब्रह्म सब स्थानकी पवित्रता करे ॥

मानसिक ध्यान—हे परमात्मन् ! मुझे सब प्रकारसे पवित्र करो । मेरा मस्तिष्क अपने सब शुद्ध व्यवहारसे शुद्ध बने । मेरे ज्ञानसे दृष्टिकी शुद्धि होवे । मेरे आत्मबलसे वाणीकी पवित्रता होवे । मेरी महत्वाकांक्षासे हृदय पवित्र बने । जनन शक्तिसे मेरा नाभिस्थान शुद्ध होवे । सत्यके आग्रहसे मेरे सिरकी अर्थात् विचारोंकी पवित्रता होवे । और परमात्माकी कृपासे सब प्रकारकी

शुद्धि होवे । मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं अपने सब इंद्रियों और अवयवोंकी पवित्रता संपादन करूंगा, कभी ऐसा आचरण नहीं करूंगा कि जिससे मेरे अंदर किसी प्रकारकी भी अपवित्रता उत्पन्न हो सके ॥

(६) प्राणायामः ।

ॐ भूः । ॐ भुवः । ॐ स्वः । ॐ महः ।
ॐ जनः । ॐ तपः । ॐ सत्यम् ॥

अर्थ—हे (ॐ) परमात्मन् ! (भूः) अस्तित्व, (भुवः) ज्ञान, (स्वः) स्वत्व, (महः) महत्त्वाकांक्षा, (जनः) जनन शक्ति, (तपः) कष्ट सहन करनकी शक्ति और (सत्यं) सत्यनिष्ठा इन सब अपनीं शक्तियोंको मैं प्राणके निरोधसे स्वाधीन रखता हूं अर्थात् इन शक्तियोंका मैं संयम करता हूं ॥

मानसिक ध्यानः—हे ईश्वर ! मैं अपनी प्राण शक्तिके निरोधसे प्राणायामद्वारा अपने सब शक्तियोंका संयम करना चाहता हूं । क्योंकि प्राणके आधारसे ही इनकी स्थिति है ।

(१) अस्तित्व, (२) ज्ञान, (३) स्वत्व, (४) महत्व, (५) जनन शक्ति, (६) कष्ट सहनशक्ति, (७) और सत्य प्रीति । ये सब मेरा शक्तियां संयमद्वारा मेरे स्वाधीन हो जावें । हे ईश्वर ! प्राणायामद्वारा मनका संयम और इंद्रियोंका दमन होकर अपनीं सब शक्तियां सदा मेरे स्वाधीन रहें । कभी उच्छृंखल न होवें । अपनी सब शक्तियां स्वाधीन रहनेसे ही मैं उन सबको अपना उन्नतिके अभीष्ट कार्यमें लगा सकता हूं ॥

(७) अघमर्षणम् ।

ॐ ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ २ ॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥

ऋ. १०।१९०।१-३

अर्थ—(अभीद्धात्) प्रदीप्त (तपसः) आत्मिक तपके तेजसे ऋत और सत्य ये सार्वकालिक और सार्वदेशिक नियम (अधि अजायत) उत्पन्न हो गये । (ततः) पश्चात् (रात्री अजायत) प्रलयकी रात्री होगई और तदनंतर प्रकृतिका समुद्र (अर्णवः) अशांत हो गया । इस प्रकृतिके क्षुब्ध समुद्रसे (संवत्सरः) कालकी (अधि अजायत) उत्पत्ति हो गई । (विश्वस्य मिषतः) सब जगतके हलचलको (वशी) वशमें रखनेवाले (धाता) विधाता ईश्वरनें (यथापूर्वं) पूर्व कल्पके समान ही आकाश, द्यु लोक, अंतरिक्ष, पृथिवी, सूर्य, चंद्र, दिन रात, आदि सब (विदधत्) बनाया और (अकल्पयत्) अपने अपने स्थानमें सुरक्षित रख दिया है ॥

मानसिक ध्यान--इस संपूर्ण जगत्के समान पूर्व कल्पमें भी यथा योग्य इसी प्रकार सब जगत था । उसका प्रलय हुआ परंतु उस समयमें भी परमात्माके ऋत और सत्य नियम कार्य कर रहे थे।

उन नियमोंके सिवाय और कुछ भी दृश्य पदार्थ उस समय बचा नहीं था। पूर्व जगतके अंतके पश्चात प्रलयरात्रीका प्रारंभ होगया। इस रात्रीका बहुत समय जानेके पश्चात्. जब कि दूसरी सृष्टि उत्पन्न होनेका समय प्राप्त हुआ, तब प्रकृतिके अंदर हलचल होने लगी। परमात्माके ऋत और सत्य नियम जगत्की रचना करने योग्य हलचल करने लगे। जिसके कारण प्रकृतिके भयानक समुद्रके अंदर बडी हलचल मची। इससे समयकी उत्पत्ति होगई। जगतकी सब हलचलको अपने आधीन रखनेवाले परमेश्वरन इसके पश्चात इस जगतकी उत्पत्ति की। उसनें यह संपूर्ण जगत् वैसाही रचा जैसा कि पूर्व कल्पमें था।

जिस प्रकार मनुष्य दिनका कार्य करके सो जाता है और दूसरे दिन उठकर फिर कलका अधूरा कार्य करने लगता है, उसी प्रकार पूर्वकल्पके अंतकी अवस्था इस कल्पके प्रारंभमें शुरू हो गई है। पूर्व कल्पके अंतमें जो पापपुण्य, सुकृत दुष्कृत आदि जैसे जिसके थे, वैसे ही इस कल्पके प्रारंभमें, उसको प्राप्त हुए हैं। बीचके प्रलयसे अपने अपने पापपुण्यमें न्यूनाधिकता नहीं हुई॥

जिस प्रकार रात्रीके सो जानेसे अपने कलके सुकृत दुष्कृत नष्ट नहीं होते उसी प्रकार प्रलयसे भी नष्ट नहीं होते। उनका योग्य भोग होनेके लिये जैसेके वैसे अवशिष्ट रहते हैं। इस लिये प्रार्थना करता हूं कि, हे परमेश्वर! मैं अपने दुष्कर्मोंका दुःख भोग भोगनेके लिये तैयार हूं। गत समय ये ये....दुष्कर्म मैंनें किये हैं। मैं उनको छिपाना नहीं चाहता। परंतु उनका परिणाम भोग कर ही उनसे निवृत्त होना चाहता हूं। साथ ही यहां पश्चात्तापपूर्वक प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं जान बूझकर इस प्रकारके कोई बुरे कर्म आयंदा नही करूंगा।

(८) मनसा परिक्रमणम् ।

ॐ प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षिता ऽऽदित्या इषवः ॥ तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ॥ योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥ अथर्व. ३।२७॥

अर्थ—(प्राची दिक्) पूर्व दिशाका (अग्निः अधिपतिः) तेजस्वी स्वामी, (अ-सितः रक्षिता) स्वतंत्र संरक्षक, और (आदित्याः इषवः) प्रकाशकिरण बाण हैं ! (तेभ्यः) उन (अधिपतिभ्यः) तेजस्वी स्वामियोंकोही नमन है । उन (रक्षितृभ्यः) स्वतंत्र संरक्षकोंके लियेही हमारा आदर है, और (एभ्यः) इन (इषुभ्यः) प्रकाशमय सत्य शक्तियोंके लिये ही हमारी नम्रता रहेगी । (यः) जो अकेला (अस्मान्*) हम सब आस्तिकोंका (द्वेष्टि) द्वेष करता है और (यं) जिस अकेले दुष्टका (वयं) हम सब धार्मिक पुरुष (द्विष्मः) द्वेष करते हैं (तं) उस दुष्टको हम सब (वः) आप सब सज्जनोंके (जंभे) न्यायके जबडेमें (दध्मः) धर देते हैं ।

मानसिक ध्यान—पूर्व दिशा अभ्युदय, उदय और उन्नतिकी सूचक है । सूर्य, चंद्र, नक्षत्र आदि दिव्य पदार्थोंका इसी दिशासे उदय होकर उनकी पूर्ण प्रकाशकी अवस्था प्रकट होती है । सचमुच यह प्रगतिकी दिशा है। जिस प्रकार इस प्रगतिकी दिशासे सबका उदय और वर्धन हो रहा है उसी प्रकार हम

---

* **अस्मान्**—अस्मत्=अस्+मत्=अस्ति+मत्=आस्तिक्य बुद्धि धारण करनेवाला । आस्तिक, धार्मिक । (य. अ. ३६ की व्याख्या देखो)

सबका उदय और वर्धन हो जावे। प्रगतिकी दिशाका तेजस्वी स्वामी और स्वतंत्र संरक्षक है, तथा प्रकाश ही उसकी शक्ति है। अर्थात् अभ्युदयके लिये तेजस्विता, स्वातंत्र्य और प्रकाशकी आवश्यकता है। जिस प्रकार सूर्य किरणरूपी बाणोंसे अंधकारका निवारण होता है उसी प्रकार ज्ञानके किरणोंसे अज्ञानका निवारण होना उन्नतिके लिये आवश्यक है। अभ्युदय प्राप्त करनेके लिये स्वसंरक्षण करनेकी आवश्यकता है और उसके लिये सब बंधनोंको दूर करना चाहिए। स्वातंत्र्यसेही संरक्षण होता है। तेजस्विता, आत्मसंमान, वक्तृत्व, ज्ञान आदि आग्नेय गुणोंका यदि आधिपत्य होगा तो ही सबका अभ्युदय हो सकता है। इस लिये तेजस्वी अधिपतियोंका, स्वतंत्रता के साथ संरक्षण करनेवालोंका और प्रतिबंधनिवारक प्रकाशमय शक्तियोंकाही हम सब आदर करते हैं। इसके विपरीत गुणोंका हम कभी आदर नहीं करेंगे। जो अकेला दुष्ट मनुष्य आस्तिक धार्मिक भद्र पुरुषोंको कष्ट देता है, उनकी प्रगति और उन्नतिमें विघ्न करता है, तथा जिसके दुष्ट होनेमें सब सदाचारियोंकी पूर्ण संमति है, अर्थात जो सचमुच दुष्ट है, उसको भी दंड देना हम अपने हाथमें नहीं लेंगे, परंतु हे तेजस्वी स्वामी और स्वतंत्र संरक्षको! आपके न्यायके जबडेमें हम सब उसको रख देते हैं। जो दण्ड आपकी संमतिसे योग्य होगा आपही उसको दीजिए। समाजकी उन्नतिके लिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह सच्चे अपराधीको भी दंड देनेका अधिकार अपने हाथमें न लेवे, परंतु उस अपराधिको अधिपतियों और संरक्षकोंकी न्याय बुद्धिमें अर्पण करे तथा उक्त प्रकारके अधिपति और संरक्षकोंका ही आदर करे। अर्थात् सत्य न्यायका विजय करनेके लिये तत्पर रहे।

ओ३म् दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चि-राजी रक्षिता पितर इषवः ॥ तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ॥ योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जंभे दध्मः ॥ २ ॥

अर्थः—(दक्षिणा दिक्) दक्षिण दिशाका (इंद्रः अधिपतिः) शत्रु निवारक स्वामी, (तिरश्चिराजी रक्षिता) मर्यादाका अतिक्रमण न करनेवाला संरक्षक और (पितरः इषवः) पितृ शक्तियां अर्थात् जनन शक्तियां बाण हैं। हम सब उन शत्रुनिवारक शूर अधिपतियोंका, अपनी मर्यादाका कभी अतिक्रमण न करनेवाले संरक्षकोंका तथा उत्तम पितृत्वके सब जनन और संरक्षक शक्तियोंका ही आदर करते हैं। जो हम सब आस्तिकोंका द्वेष करता है और सब हम आस्तिक जिसका द्वेष करते हैं, उसको हम सब आप स्वामी और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें धर देते हैं॥

मानसिक ध्यान—दक्षिण दिशा चातुर्य, कौशल्य आदि उत्तम गुणोंकी सूचक है। सीधा अंग दक्षिणांग कहलाता है। अर्थात् दक्षिण दिशासे सीधेपनके मार्गकी सूचना मिलती है। शत्रुका निवारण करने, अपने नियमोंकी मर्यादाका उल्लंघन न करने और उत्तम प्रजा निर्माण करनेकी शक्ति धारण करनेवाले क्रमशः अधिपति, संरक्षक और सहायक हैं। इन ही पुरुषोंका आदर और सन्मान करना योग्य है। जो सबका द्वेष करेगा और जिसका सब द्वेष करेंगे उसको अधिपति, संरक्षक और सहायकोंके जबडेमें देना उचित है। हरएक मनुष्यको उचित है कि वह सीधे मार्गसे चले और उच्च बने॥

ॐ प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षिताऽन्नमिषवः ॥ तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ॥ यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जंभे दध्मः ॥ ३ ॥ अथर्व ३।२७॥

अर्थ—(प्रतीचो दिक्) पश्चिम दिशाका (वरुणः अधिपतिः) वर अर्थात् श्रेष्ठ अधिपति, (पृदाकुः रक्षिता) स्पर्धामें उत्साह धारण करनेवाला संरक्षक और (अन्नं इषवः) अन्न इषु हैं । उन श्रेष्ठ अधिपतियोंके लिये, उन उत्साही संरक्षकोंके लिये तथा उस अभीष्ट अन्नके लिये हमारा आदर है । जो सबका द्वेष करता है और जिसका सब द्वेष करते हैं उसको अधिपतियोंके न्यायके जबडेमें धर देते हैं ॥

मानसिक ध्यान—सूर्य चंद्र आदि सब दिव्य ज्योति पश्चिम दिशामें जा कर गुप्त होते हैं और जगतको विश्राम लेनेकी सूचना देते हैं । पूर्व दिशाद्वारा पुरुषार्थकी सूचना हो गयी थी, अब पश्चिम दिशासे गुप्त स्थानमें प्रविष्ट होने और विश्राम लेनेकी सूचना मिली है । श्रेष्ठ और उत्साही पुरुष इस मार्गके क्रमशः अधिपति और संरक्षक हैं । विश्राम और आरामका यहां मुख्य साधन अन्न है । श्रेष्ठ और उत्साही अधिपति और संरक्षकोंके लिये सबको सत्कार करना योग्य है । तथा अन्नकी ओर सन्मानकी दृष्टिसे देखना सबको उचित है । जो सबका द्वेष करता है और जिसका सब समाज द्वेष करता है उसको अधिपतियोंके न्यायके आधीन करना चाहिए । समाजके हितके लिये सबको

उचित है कि वे न्यायानुसार ही अपना सब बर्ताव करें और किसीको उपद्रव न दें ॥

ॐ उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताऽशनिरिषवः॥ तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ॥ योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जंभे दध्मः ॥ ४ ॥

अर्थ—(उदीची दिक्) उत्तर दिशाका (सोमः अधिपतिः) शांत अधिपति, (स्वजः रक्षिता) स्वयं सिद्ध रक्षक और (अशनिः इषवः) विद्युत्तेज इषु हैं। उन शांत अधिपतियों, स्वयं सिद्ध संरक्षकों और तेजस्वी इषुओंके लिये हमारा नमन है। जो सबका द्वेष करता है और जिसका सब द्वेष करते हैं उसको अधिपतियोंके न्यायक जबडेमें धर देते हैं ॥

मानसिक ध्यान—उत्तर दिशा उच्च तर अवस्थाकी सूचना देती है। यहां शांत भावका आधिपत्य है, आलस्य छोडकर सदा सिद्ध रहनेके धर्मसे संरक्षण होता है, व्यापक तेजकी यहां सहायता होती है। शांतभाव धारण करनेवाले अधिपति, सदा सिद्ध संरक्षक, सदा सन्मान करने योग्य हैं। साथ ही सब तेजोंके विषयमें भी आदर धारण करना योग्य है। जो सबका द्वेष करता है और जिसका सब द्वेष करते हैं, उसको अधिपतियोंके सन्मुख खडा किया जावे। लोक ही स्वयं उसको दंड न देवें। तथा अधिपति निःपक्षपातकी दृष्टीसे उसको योग्य न्याय देवें। समाजके हितके लिये ऐसा करना उचित है।

ओ३म् ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः ॥ तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ॥ योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जंभे दध्मः ॥ ५ ॥

अर्थ—(ध्रुवा दिक्) स्थिर दिशाका (विष्णुः अधिपतिः) उद्यमी अधिपति, (कल्माष–ग्रीवः रक्षिता) कर्मकर्ता संरक्षक और (वीरुधः इषवः) वनस्पतियां इषु हैं। इन सब अधिपतियोंके लिये हमारा आदर है। इ० ॥

मानसिक ध्यान—ध्रुव दिशा स्थिरताकी सूचना देती है। चंचलता दूर करने और स्थिरता प्राप्त करनेके लिये सब धर्मके नियम हैं। उद्यमी पुरुषार्थी पुरुष यहां अधिपति और संरक्षक हैं और औषधि वनस्पतियां सहायक हैं। उद्यमी पुरुषार्थी मनुष्योंका ही सन्मान करना उचित है। इ० ॥

ओ३म् ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः ॥ तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ॥ योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जंभे दध्मः ॥ ६ ॥

अथर्व ३।२७

अर्थ—(ऊर्ध्वा दिक्) ऊर्ध्व दिशाका (बृहस्पतिः अधिपतिः) ज्ञानी स्वामी है, (श्वित्रः रक्षिता) पवित्र संरक्षक है और (वर्षं

इषवः) वर्षा इषु हैं। ज्ञानी स्वामियोंका तथा पवित्र संरक्षकोंका सबको सन्मान करना योग्य है। वर्षाकी ओर भी आदर दृष्टि रखना चाहिए। इ० ॥

मानसिक ध्यान—ऊर्ध्व दिशा आत्मिक उच्चताका मार्ग सूचित करती है। सच्चा ज्ञानी आप्त पुरुष ही इस मार्गका अधिकारी है। जो अंतर्बाह्य पवित्र होगा वह ही यहां संरक्षक हो सकता है। आत्मिक उच्चताके मार्गका अवलंबन करनेके समय ज्ञानी आप्त पुरुषके आधिपत्यमें तथा पवित्र सदाचारी पुरुषके संरक्षणमें रहते हुए मार्गका आक्रमण करनेसे इष्ट सिद्धियोंकी वृष्टि हो सकती है। इसलिये ऐसे अधिपति और संरक्षकोंका आदर करना सबको उचित है। इ० ॥

(१) उपस्थानम्।

ओ३म् उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्॥
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

यजु. ३५।१४

अर्थ--(वयं) हम सब (उत्) उत्कृष्ट (तमसः) प्रकृतिसे (परि) परे (उत्तरं) अधिक उत्कृष्ट (स्वः) स्वकीय जीवात्माका (पश्यन्तः) अनुभव करते हुए, (उत्तमं) सबमें उत्कृष्ट (ज्योतिः) परमात्म तेजको (अगन्म) प्राप्त करते हैं, जो (देव-त्रा देवं) सब दिव्य पदार्थोंका प्रकाशक और (सूर्यं) स्वयं प्रकाशी तथा सबका प्रेरक है॥

मानसिक ध्यान— (१) प्रकृति और उसका बना हुआ प्राकृतिक जगत् उत्कृष्ट है, क्योंकि वह जीवोंकी उन्नतिका उत्कृष्ट साधन है। (२) उस साधनसे साधक जीव अधिक श्रेष्ठ है क्यों कि यह उस साधनका योग्य उपयोग करके अपनी उन्नति प्राप्त

करता है । (३) उक्त दोनोंसे भी अधिक श्रेष्ठ सर्वोत्तम परमात्मा है क्योंकि वह स्वयं सर्व शक्तिमान, सर्वाधार, स्वयंभू और सर्व प्रकाशक है । हम सब मिलकर प्रकृतिसे बने हुए जगत्का अनुभव लेते हुए, जीवात्माका ज्ञान प्राप्त करते हैं । और जगत् और जीवके ज्ञानका अनुभव करके परमात्माका ज्ञान प्राप्त करते हैं ॥

ॐ उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ॥
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ ऋ. १।५०।१; यजु. ३३।३१

अर्थ—(केतवः) ज्ञानी धुरीण लोक (विश्वाय दृशे) सबको ज्ञान देनेके लिये (त्यं) उस (जात-वेदसं) बने हुए जगतको यथावत् जाननेवाले (देवं सूर्यं) दिव्य प्रेरक ईश्वरका (उत् वहन्ति) अनुभव करते हैं ।

मानसिक ध्यान—ज्ञानी लोक परमात्माके स्वरूपका अनुभव करते हैं, और जो अनुभव करते हैं, वे ही उसका ज्ञान दूसरोंको दे सकते हैं । परमात्मा स्वयं सर्वज्ञ, दिव्य, सबका प्रेरक और सबसे श्रेष्ठ है । वह ही उपास्य है । उसका ज्ञानी लोकोंसे ही बोध हो सकता है । इस लिये मैं ज्ञानी गुरुजनोंके पास जाकर परमात्माका साक्षात्कार करनेका उपाय प्राप्त करूंगा और श्रद्धाभक्तिसे ध्यानधारणादि द्वारा उसका साक्षात्कार करूंगा । जो जो उसके साधनके उपाय हैं उनको पास करूंगा और जो जो बाधा डालनेवाले होंगे उनको मैं दूर करूंगा । इस प्रकार करनेसे मुझे शीघ्र ही परमात्म स्वरूपका ज्ञान होगा । वह बडा ही आनंदका और भाग्यका समय होगा कि जिस समय मुझे साक्षात्कार होगा । हे परमात्मन् ! मेरे अंतःकरणमें ऐसी भक्ति उत्पन्न करो कि जिससे मैं कुतर्कोंसे दूर हो कर तेरे स्वरूपका अनुभव शीघ्र प्राप्त कर सकूं ॥

ओ३म् चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ॥ आ प्रा द्यावापृथिवी अंतरिक्षँ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥

यजु. ७।४२; ऋ. १।११५।१

अर्थ—जो (देवानां) सब दवताओंमें (चित्रं) विलक्षण (अनीकं) बलवान है, (मित्रस्य) सूर्य, (वरुणस्य) वरुण और (अग्नेः) अग्नि आदिकोंकोभी (चक्षुः) प्रकाश देता है, (द्यावा पृथिवी) द्युलोक, पृथिवी और (अंतरिक्षं) अंतरिक्ष लोकमें भी जो (आ प्रा) व्यापक है, तथा (तस्थुषः) स्थावर (च) और (जगतः) जंगमका भी जो (आत्मा) अंतरात्मा है वह (सूर्यः) सकल जगत्का उत्पादक परमात्मा मेरे अंतःकरणमें (उदगात्) प्रकाशित होवे। (स्व–आ–हा) मैं पूर्ण त्याग करता हूं।

मानसिक ध्यान—परमात्मा सबसे विलक्षण और अद्भुत सामर्थ्य शाली है, वह ही सूर्यादिकोंको प्रकाश देता है, संपूर्ण जगतमें पूर्णतया व्यापक हो कर, स्थावर जंगम सब जगतका अंतरात्मा वह ही है। मैं उसीकी स्तुति प्रार्थना और उपासना करता हूं। मेरी इतनीही प्रबल इच्छा है कि वह मेरे हृदयमें प्रकाशित होवे, ताकि उसके साक्षात्कारसे मैं पवित्र और कृत कार्य बनूं। साथ ही मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि स्वार्थ परायणताका त्याग करता हुआ मैं परोपकारका जीवन व्यतीत करूंगा। क्यों कि मैं समझता हूं कि यह हा परमात्म सेवाका शुद्ध मार्ग है।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् ॥
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम
शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम
शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

यजु. ३६।२४

अर्थ—(तत्) वह (देव-हितं) देवोंका हित करनेवाला (शुक्रं) पवित्र (चक्षुः) ज्ञानतेज (पुरस्तात्) पहिलेसे ही (उत् चरत्) उदित हुआ है। उसकी सहायतासे (शरदः शतं पश्येम) सौ वर्ष पर्यंत देखें, (शरदः शतं जीवेम) सौ वर्ष जीते रहें, (शरदः शतं शृणुयाम) सौ वर्षपर्यंत सुनें, (शरदः शतं प्रब्रवाम) सौ वर्ष प्रवचन करें, (शरदः शतं अ-दीनाः स्याम) सौ वर्षपर्यंत दीन न बनते हुए रहें, (शरदः शतात् भूयः) सौ वर्षसे भी अधिक आनंदके साथ रहें ॥

मानसिक ध्यान—परमात्मा सब देवोंका हित करता है। और उसका सदासेही उदय हो गया है। उसका अस्त कभी नहीं होता है। हमारी शुद्धता और पवित्रतासे उसका साक्षात्कार होना है। इसलिये सब प्रकारसे पवित्र बनकर उसका ज्ञान प्राप्त करूंगा। और उसकी कृपा छत्रके अंदर आकर, निर्भय बनकर मैं सौ वर्ष अथवा उससेभी अधिक दीर्घ आयु प्राप्त करूंगा, और पूर्ण दीर्घ आयुकी समाप्ति तक, दीन न बनता हुआ, पुरुषार्थ करके सब इंद्रियोंकी शक्तियोंको उन्नत करता हुआ, आनंदसे परमात्माके गुणोंका कीर्तन करूंगा और उसीकी भक्ति और उपासना करूंगा ॥

(१०) गुरु मंत्रः।

ओ३म् भूर्भुवः स्वः ॥ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ॥ धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

ऋ. ३।६२।१०; यजु. ३६।३

अर्थ--(ओ३म्) ओंकारवाच्य (भूः) सत् (भुवः) चित् और (स्वः) आनंद स्वरूप (सवितुः) जगदुत्पादक (देवस्य) ईश्वरके (तत्) उस (वरेण्यं भर्गः) श्रेष्ठ तेजका हम सब (धीमहि) ध्यान करते हैं, इसलिये कि (यः) वह (नः धियः) हम सबकी बुद्धियोंको (प्रचोदयात्) विशेष प्रेरणा करे ॥

मानसिक ध्यान--परमेश्वर सच्चिदानंदस्वरूप और सब जगत्का उत्पन्न करनेवाला है; उसके श्रेष्ठ तेजका हम सब इसलिये ध्यान करते हैं कि ध्यान करनेसे हम सबकी बुद्धियोंको वह उत्तम प्रेरणा करके उत्तम और श्रेष्ठ बनाता है। हे ईश्वर! हे परमात्मन्! हे अंतर्यामिन्। कृपा करो, दया करो और इस भक्तको पवित्र और शुद्ध बना ओ!

(११) नमनम्।

ओ३म् नमः शंभवाय च मयोभवाय च ॥
नमः शंकराय च मयस्कराय च ॥
नमः शिवाय च शिवतराय च ॥

यजु. १६।४१

अर्थ--(शं-भवाय) शांति देनेवाले ईश्वरके लिये मेरा (नमः) नमस्कार है। (मयो-भवाय) सुखदायक परमात्माके

लिये मेरा नमस्कार है। (शं-कराय) शांति करनेवाले ईश्वरके लिये तथा (मयस्कराय) सुखी करनेवाले ईश्वरके लिये मेरा नमस्कार है। (शिवाय) जो स्वयं कल्याणरूप है तथा जो (शिवतराय) अत्यंत मंगलमय है उस ईश्वरके लिये मेरा नमस्कार है।

मानसिक ध्यान–परमेश्वर शांति और सुख देनेवाला, सबको शांत और सुखी करनेवाला तथा स्वयं कल्याण स्वरूप और अत्यंत मंगलमय है। नम्रतायुक्त अंतःकरणसे उसको मैं शरण जाता हूं और उसको नमस्कार करता हूं। हे परमात्मन्! हे कृपालो! हे दयाघन सच्चिदानंद! मेरे हृदयमें तेरी भक्ति स्थिर करो! यही यही मेरी प्रार्थना और यही मेरी इच्छा है। पूर्ण करो, पूर्ण करो, पूर्ण करो।

हे ईश्वर! तेरी कृपासे हरएक व्यक्तिको शांति प्राप्त होवे!
हे ईश्वर! तेरी कृपासे सब समाजको शांति प्राप्त होवे!
हे ईश्वर! तेरी कृपासे सब जगत्को शांति प्राप्त होवे!

ओ३म्। शांतिः। शांतिः। शांति।

संध्योपासनाके मंत्रोंका विचार

(१) पूर्व तैयारी।

प्रथम आचमन।

प्रत्येक यज्ञकर्ममें आचमन और इंद्रियस्पर्श अत्यंत आवश्यक है। परंतु कई लोक इस प्राथमिक आचमनको संध्योपासनाके समय नहीं करते। और द्वितीयाचमनसे ही संध्याका प्रारंभ करते हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है, कि जैसा इतर यज्ञकर्ममें इस प्राथमिक आचमनकी आवश्यकता है, उसी प्रकार संध्योपासनाके लिये भी आवश्यकता है। यह प्रथम आचमन आर इंद्रिय स्पर्श यज्ञकर्मकी तैयारीके लिये हैं।

आचमनका उद्देश और फल।

दक्षिण हाथमें अंगुष्ठसे तर्जनीको अंदर दबा कर तथा अन्य अंगुलियोंको जोड कर हाथका सीधा चमस सा बनाया जाता है। उस हाथके चमसमें थोडासा पानी लेकर उसको मुखद्वारा पीनेसे आचमन हुआ करता है। यह आचमन साधारण अवस्थामें कंठकी शुद्धि करता है। कंठमें कफ आदि मल होते हैं, उनको दूर कनेका काम आचमनका है। कंठ निर्मल होनेसे शब्दोंका उच्चारण ठीक होता है, तथा चित्त भी प्रसन्न होता है। आचमनके अनेक फल हैं परंतु उनमें निम्न लिखित फल स्वानुभवके हैं-(१) आचमन शरीरकी उष्णताको सम प्रमाणमें लाता है, (२) जठरकी प्रसन्नता होती है और क्षुधा प्रदीप्त होती है, (३) उच्च

स्वरसे बोलना सुगम होता है, (४) कफ विकार हटता है, (५) ज्वरसे बीमार होनेकी आवस्थामें अनेक बार आचमन करनेसे बहुत लाभ होते हैं, बहुतसे ज्वरके कष्ट शांत होते हैं, (६) पित्त विकारका शमन होता है, (७) शौचकी शुद्धि होती है, बद्ध कोष्ठता दूर होती है । इसके अतिरिक्त आचमनसे अनेक लाभ हैं, परंतु सबका उल्लेख यहां नहीं किया जा सकता । इतना समज लीजिए कि साधारण शुद्ध शीत जलका आचमन एक विलक्षण दवाई है, कि जो अनेक रोगोंकी शांति करती है । रोगकी तीव्रताके अनुसार आचमन बारंबार करना होता है । अस्तु ।

इतना महत्व आचमनका होनेके कारण सब धर्मके कर्मोंमें आचमन आवश्यक समझा गया है । देखीए शतपथमें कहा है—

तद् यदपः उपस्पृशति........तेन पूतिरन्तरतः ।
पवित्रं वा आपः ।—शत. ब्रा. १।१।१।१

' जो जलका आचमन किया जाता है, उससे आंतरिक शुद्धि होती है, क्यों कि जल पवित्रता करनेवाला है । ' पवित्रता जहां होतीहै वहां नीरोगता और आरोग्य अवश्यमेव होता है । आचमनसे पवित्रता होनेके कारण ही मनकी प्रसन्नता होती है, आलस्य दूर होता है, चित्तकी एकाग्रता होनेमें सहायता होती है, इंद्रियोंकी सुस्ति हट जाती है, शिरमें चक्कर आदि आते हों तो आचमनसे हट जाते हैं, क्रोध आदि विकारोंका शमन होता है, काम विकारका संयम होता है, इस प्रकार अनेक लाभ आचमनसे होते हैं। इस लिये योग्य प्रकारसे आचमन करनेकी अत्यंत आवश्यकता है ।

सब धार्मिक कार्य मनकी एकाग्रता और प्रसन्नता के साथ करना चाहीए । यह नियम सब कार्योंके लिये समझलीजिए ।

आचमनके समय मनकी कल्पना ।

आचमन के समय मनकी विशेष अवस्था रखना चाहीए। इसी प्रकार हरएक संध्योपासनाके मंत्रके समय करना उचित है। मंत्रके आशयके मननसे चित्त की एकाग्रता करनेका अभ्यास करना है। यही ध्यानयोग है। जो ठीक प्रकारसे अभ्यास करेगा उसी को सिद्धि हो सकती है। दूसरों को किस प्रकार होगी? आचमन के पहिले दो मंत्र निम्न स्थान मे रखे हैं—

ॐ अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा।
ॐ अमृतापिधानमसि स्वाहा॥

'परमेश्वर अमृतका उपस्तरण और अपिधान है।' इतना इनका आशय है। इन मंत्रोंके उच्चारणके साथ उपासकको निम्न विचारकी धारणा करना उचित है—
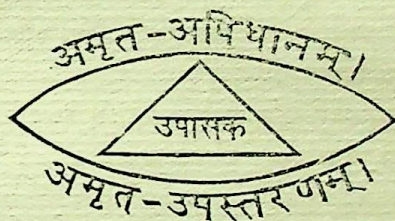
सोनेके समय नीचे एक चादर होती है उसका नाम उपस्तरण होता है, और ओढनेकी चादरका नाम अपिधान होता है। दोनों चादरोंके बीचमें सोनेवाला आराम प्राप्त करता है। इसी प्रकार परमेश्वरके बीचमें उपासकको आराम और आनंद प्राप्त हो सकता है। इस समय उपासक ऐसा विचार करे कि मेरे चारों ओर तथा अंदर भी परमात्मा व्यापक है। जिस प्रकार वायुके बीचमें घर होते हैं अथवा तालावके बीचमें तेरनेवाला होता है उस

प्रकार परमात्माके बीचमें मैं हूं। परमेश्वरकी व्यापकता इससे भी अधिक है। कुछ देरतक उपासक इसी प्रकार अपने आपको परमात्माके अंदर और परमात्माको चारों ओर समझे। चित्तकी वृत्ति इसी विचारसे पूर्ण करे और दूसरी कोई बात इस समय न सोचे। केवल इस एक विचारसे भिन्न कोई अन्य विचार मनमें न रखे। थोडी देर इस प्रकार ध्यान करके पश्चात् तीसरा आचमन करे—

ओँ सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा।

'सत्य, यश, शोभा और संपत्ति मेरे आश्रयसे रहें।' इस मंत्रके उच्चारणके पश्चात् इस अर्थका थोडी देरतक मनन करना चाहिए। सबसे प्रथम सत्यका आग्रह अर्थात् सत्यकी निष्ठा धारण करना चाहिए। धर्मका इसीसे साधन होना है। तत्पश्चात् यश, शोभा और संपत्तिका विचार क्रमसे करना उचित है। आजकल संपत्तिका मान अधिक हो गया है और सत्यका कम हो गया है। इसी लिये सर्वत्र अधर्म और अनर्थ हो रहा है। यदि लोकोंमें सत्यकी प्रीति स्थापित की जाय, और लालच की गुलामी कम की जायगी, तो सर्वत्र शांति स्थापित हो सकती है।

यहां उपासकको उचित है कि सत्यका अवलंबन करनेवाले सदाचारी पुरुषके चरित्रका किंचिन्मात्र विचार करें और मैं अवश्य वैसा बननेका प्रयत्न करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करे। इस प्रकार लालच छोडने और सत्यकी प्रीति अपने अंतःकरणमें बढानेका यत्न प्रतिदिन करनेसे मनुष्य सत्यनिष्ठ बन जाता है। यह ही इस प्रकारके ध्यानसे लाभ हो सकता है। अस्तु। इस आचमनके साथ निम्न उपनिषदका मंत्र देखने योग्य है—

अमृतमस्यमृतोपस्तरणमस्यमृतं प्राणे जुहोमि॥
अपिधानमस्यमृतत्त्वायोपदधामि॥ प्राणाग्नि. उ. २

'तू अमृत है, अमृतका आच्छादन है, तेरे अमृतको मैं अपने प्राणमें रखता हूं। तू अमृतका आवरण है, अमरपनके लिये तेरी धारणा करता हूं।' सत्यके विषयमें अथर्व वेदकी श्रुति देखीए—

स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत् ॥ अथर्व. ११।८।२०

'(स्तेयं) चोरी, दुराचार और कुटिलता ही पाप है। और सत्य ही बडा यज्ञ और महान यश है।' तथा—

सत्याय च तपसे देवताभ्यो
निधिं शेवधिं परिदद्म एतम् ॥ अथर्व. १२।३।४६

'(एतं शेवधिं निधिं) यह बडा द्रव्यका निधि सत्य, तप और देवताओंके लिये (परि दद्मः) सब प्रकारसे अर्पण करते हैं।' इस मंत्रमें सत्यके पालनके लिये सब द्रव्यका अर्पण करनेका उपदेश है। यह हर समय ध्यानमें धरना चाहिए। तथा—

सत्यं चर्तं च चक्षुषी। अथर्व. ९।५।२१

'सत्य और ऋत ये दो सच्चे आंख हैं।' जो सत्यका पालन नहीं करता उसका आंख अंधा है। जो सत्यका पालन करता है वह ही ठीक देख सकता है। तथा—

सत्यं च मे श्रद्धा च मे यजु. ॥ १८।५

'मेरा सत्य और मेरी श्रद्धा यज्ञमें समर्पित हो जावे' तथा—

सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रु-
रनु स्वधामृभवो जग्मुरेताम् ॥ ऋ. ४।३३।६

'(नरः) नेता लोक (सत्यं) सत्य (ऊचुः) कहते हैं, और (एवा हि) कहनेके अनुसार ही (चक्रुः) करते हैं। इसलिये (एतां स्व-धां) इस स्वावलंबनके सत्यमार्गका (ऋभवः) ऋभु अर्थात् कारीगर (अनुजग्मुः) अनुकरण करते हैं।' इसप्रकार सत्य, यश और धनके विषयमें वेदका उपदेश है। यह उपदेश

सबको सर्वदा ध्यानमें धरने योग्य है । सत्य बोलना चाहिए और बोलनेके अनुसार करना चाहिए । यह ही सबसे सीधा मार्ग है ।

अस्तु इस प्रकार मानसिक मनन होनेके पश्चात् अंगस्पर्श करना चाहिए । अब उपासकोंको यहां स्मरण रखना उचित है, कि संध्योपासनाका प्रारंभ करनेके पश्चात समाप्ति तक किसी अन्य विचारको मनकी भूमिकामें नहीं लाना चाहिए । केवल क्रमपूर्वक संध्याके मंत्रोंका तथा तत्सदृश वेदमंत्रोंका ही विचार करना चाहिए, अर्थात् मनको संध्यारूप ही बनाना चाहिए ।

अंगस्पर्श ।

अंगस्पर्श अर्थात् खास खास अवयवोंको जलका स्पर्श करना है । इसका उद्देश और फल हम आगे लिखेंगे परंतु यहां इस विधिका उद्देश ध्यानमें आनेके लिये निम्न मंत्रोंका प्रथम विचार करेंगे—

वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ॥
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहुबाह्वोर्बलम् ॥१॥
ऊर्वोरोजो जंघयोर्जवः पादयोः ॥
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः ॥ २ ॥
तनूस्तन्वा मे सहे दतः सर्वमायुरशीय ॥
स्योनं मे सीद पुरः पृणस्व पवमानः स्वर्गे ॥ १ ॥
प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ॥
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥
उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय ॥
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय ॥ १ ॥
अथर्व. कां. १९ सू. ६०, ६१, ६२, ६३ ।

अर्थ—मेरे (आसन्) मुखमें पूर्ण आयुकी समाप्ति तक उत्तम वक्तृत्वशक्ति रहे, नासिकामें प्राणशक्ति संचार करती रहे,

आंखोंमें दृष्टि उत्तम प्रकारसे रहे, कानोंमें श्रवणशक्ति रहे, (अप-लिताः केशाः) मेरे बाल सफेद न हों, (अ-शोणा दन्ताः) मेरे दांत मलीन न हों, मेरे बाहुओंमें बहुत बल रहें, मेरे ऊरुओंमें (ओजः) शक्ति रहे, जांघोंमें (जवः) वेग रहे, पाओंके अंदर (प्रतिष्ठा) स्थिरता और दृढता रहे, मेरे सब अवयव (अरिष्टानि) हृष्टपुष्ट होवें, मेरा आत्मा सदा उत्साह पूर्ण रहे। (तनूः) मेरे शरीरके सब अवयव उत्तम अवस्थामें रहें। मुझमें कष्ट (सहे) सहन करनेकी शक्ति होवे, मेरे दांत बलवान होवें, मैं (सर्वं आयुः) पूर्ण दीर्घ आयु प्राप्त करूंगा। पूर्ण आयुकी समाप्तितक मेरे सब अवयव हृष्ट पुष्ट रहें, मुझे (स्योनं) सुख प्राप्त होवे, (पुरु) बहुत पूर्णत्व प्राप्त होवे, मैं शुद्ध होकर (स्वर्गे) स्वर्गमें-अर्थात् उत्तम लोकमें-प्रसन्नतासे रहूंगा। (प्रियं) मुझे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंमें प्रिय करो। सब (पश्यतः) देखनेवालोंमें मैं प्रिय हो जाऊंगा। अर्थात् मैं लोकमान्य बनूंगा। हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानके स्वामिन् (उत्तिष्ठ) उठो। और (यज्ञेन) सत्कर्मके द्वारा (देवान् बोधय) विद्वानोंमें जागृति उत्पन्न करो। और आयु, जीवन, संतति, पशु, कीर्ति तथा सत्कर्म करनेवालोंका बल बढाओ॥

मनुष्योंको यही इच्छा धारण करना चाहिए। आयु, जीवन संतति, पशु, कीर्ति, आदिकी वृद्धि करना चाहिए। तथा—

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चेंद्रियं
च श्रीश्च धर्मश्च॥ १॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च
त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च॥ २॥

आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च
प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च॥ ३॥

पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं
चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ ४ ॥

अथर्व. १२।६।१-४

" शक्ति, तेज, सहनशक्ति, बल, वक्तृत्व, इंद्रिय शक्ति, शोभा, कर्तव्य जागृति, ज्ञान, शौर्य, राष्ट्रनिष्ठा, लोकनिष्ठा, उत्साह; यश, उग्रता, धन, आयु, सुंदरता, नाम, कीर्ति, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, दूध, रस, अन्न, खानपान, ऋत, सत्य, इष्ट, पूर्णत्व, संतति और पशु आदि इनकी उन्नति और वृद्धिके लिये प्रयत्न होना चाहिए । " इस प्रकार अपनी उन्नतिके विषयमें वेदमें उपदेश है । इस लिये किसी मनुष्यको उचित नहीं, कि वह इन कर्तव्योंके विषयमें उदासीन रहे । क्यों कि कहा है—

इषे त्वोर्जे त्वा वायवः स्थ देवो वः सविता
प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वम् ॥ यजु० १ ॥

" अन्न और बलके लिये तुमको प्रयत्न करना चाहिए । आप वायुरूप अर्थात् प्राणरूप हैं । परमात्म देव आप सबको श्रेष्ठतम सत्कर्मोंके लिये प्रेरणा करे । इन कर्मोंको करते हुए ही आप उन्नत हो जाईए । " इस प्रकार उन्नतिका ध्येय सब मनुष्योंके सन्मुख स्पष्ट रीतीसे वेदने रखा है । तथा—

आप्यायन्तु ममांगानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिंद्रियाणि च ॥ सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणंमे स्तु तदात्मनिरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥

उपनिषच्छांतिः ।

" मेरे सब अवयव हृष्टपुष्ट होकर उन्नत होवें, मेरा वक्तृत्व, जीवन, चक्षु, श्रोत्र, बल और सब अन्य इंद्रियां तथा सब अवयव

बलवान हो जांय। यह सब ज्ञान है। मैं इस सत्यज्ञानका खंडन नहीं करूंगा। ज्ञानसे मेरा नाश न होवे। एक दूसरेका नाश न होवे। जो ज्ञानकीं दिव्य शक्तियां हैं, उनकी स्थिरता मेरेमें हो जावे!" इस प्रकार अपने अवयवोंकी उन्नति, अपनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, तथा राष्ट्रीय उन्नति प्राप्त करनेके विषयमें वेदमें अनेक आज्ञा हैं। उन शक्तियोंकी प्राप्ति करनेकी मनुष्यमें योग्यता आनेके लिये संध्योपासनाके अंगस्पर्श–मंत्रोंमें सूचना दी है।

'मेरे अंदर वक्तृत्वशक्ति, जीवनशक्ति, दर्शन, श्रवण, आदि-शक्ति, बाहुबल, ओस्विता, आदिकी उन्नति होवे। मेरे सब अव-यव हृष्टपुष्ट होकर, सब अवयव अपना अपना कार्य, मेरी दीर्घ आयुकी समाप्तितक, करनेमें समर्थ होवें।' यह इन मंत्रोंका भावार्थ है। इनमें जितने अवयवोंके नाम आये हैं, उनसे भिन्न जो शेष अवयव हैं, उनका भी स्मरण इस समय करना उचित है। क्यों कि पूर्वोक्त मंत्रोंद्वारा वेदमंत्रोंका आशय हमने देखा है, कि मनुष्यकी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि सब प्रकारकी पूर्णता करना वेदके उपदेशका सार है। इस लिये यहा अनुक्त अवयवोंका भी ग्रहण करना उचित है।

इंद्रिय स्पर्शका उद्देश।

जिस अवयवको शीत जलका स्पर्श किया जाता है उस अव-यवमें रक्तका संचार अधिक होता है। शीत जलके स्नानसे सब शरीरके अंदर रुधिरका भ्रमण जोरसे होता है, इसी कारण शीत-जलका स्नान करते ही शरीरमें उष्णता आती है, और सर्दी कम लगती है। यही बात शीत जलसे इंद्रियस्पर्श करनेसे होती है। जिस इंद्रियको शीत जलका स्पर्श किया जाता है, उसमें रुधि-रका संचार अधिक वेगसे होने लगता है। और जहां रुधिरका

भ्रमण जोरसे होने लगता है, वहां निर्मलता, नीरोगता, आरोग्य और उत्साह इतनी वृद्धि होती है; तथा दोष, आलस्य, सुस्ति आदि दूर होती है।

किसी अवयवको जलका स्पर्श किया जावे और साथ हीं मनकी पूर्ण एकाग्रता उसी अवयव पर की जावे, तो अनुभव है, कि पांच या दस निमेषोंके अंदर उस अवयवमें बहुत रुधिरका प्रवाह आता है, और वह अवयव उष्ण हो जाता है। इतना मनकी एकाग्रताका प्रभाव है। तात्पर्य किसी अवयव पर शीतजलस्पर्श करके साथ साथ उसपर मनकी एकाग्रता करनेसे उस अवयवकी निर्दोषता और नीरोगता प्राप्त हो सकती है। विशेषतः अपने और साधारणतः बहुत थोडे प्रसंगोंमें दूसरोंके शरीर पर इस बातका अनुभव मैनें स्वयं लिया है, कि इस प्रकार शीतजलस्पर्श और मानसिक चित्तैकाग्र्य करनेसे अवयवोंके दर्द बिलकुल, और विना औषधिके, हट जाते हैं। हां, इस बातकी विशेष सावधानता रखनेकी आवश्यकता है, कि मनकी एकाग्रताके समय, मनमें किसी प्रकार कुतर्क न आवे, मनमें श्रद्धा और भक्ति रहे, तथा जिस अवयवमें दर्द होता हो, उसी पर ठीक प्रकार चित्तकी एकाग्रता की जाव। हर एक उपासक इस बातका स्वयं अनुभव ले सकता है। इसका विशेष वर्णन योगसाधनके ग्रंथमें होगा वहां पाठक देख सकते हैं।

अंगस्पर्शका विषय विशेष प्रकारके अनुष्ठानका है। जैसा समझा जाता है वैसा केवल स्पर्श मात्रसे उसका पूर्णतया लाभ नहीं हो सकता। संघोंमें बैठ कर सब कपडे लत्ते पहन कर जब अंगस्पर्शका नाट्य किया जाता है तब वह केवल सूचना मात्र है ऐसा समझीए। मेरे मतसे संध्योपासना अथवा अंगस्पर्श आदि विधि एक एकको एकांतमें बैठकर शांतिके साथ और श्रद्धाभक्तिके

साथ ही करना चाहिए। कई लोक प्रदर्शनके लिये संध्या करते हैं, वह उनका आचरण ही अविश्वास और ढोंग बढानेके लिये कारणीभूत होता है। धर्मके अंदर ऐसा न होगा तो बडा अच्छा है। अस्तु ।

अंगस्पर्श करनेका विधि ।

अंगस्पर्श करनेका विशेष विधि है। उस प्रकार करनेसे ही इससे पूर्णलाभ हो सकता है और संध्याकी तैयारी पूर्ण रीतीसे हो जाती है। संध्याकी तैयारी करके ही संध्या करना चाहिए। कई लोक यहां पूछेंगे की संध्याकी तैयारीसे तात्पर्य क्या है ? उत्तरमें निवेदन है कि, अष्टांग योगमें '**ध्यान**' सप्तम अंग है। सम्यक् ध्यान ही '**संध्या**' है। सम्यक् 'ध्यान' योगका सतवां अंग है, इसके पूर्व छे अंग हैं। यदि छे अंगोंका अभ्यास नहीं किया जायगा तो सप्तम '**ध्यान**' नामक अंगका अनुष्ठान भी ठीक नहीं हो सकता ।

(१) **यम**, (२) **नियम**, (३) **आसन**, (४) **प्राणायाम**, (५) **प्रत्याहार**, (६) **धारणा** (७) **ध्यान**, (८) **समाधि** यह अष्टांग योग है। पूर्वोक्त सात ही अंगोंके अनुष्ठानसे समाधिकी सिद्धि प्राप्त करना है। समाधिमें अप्रतिम आनंद प्राप्त होता है, इस लिये समाधिकी स्थिति प्राप्त करनेकी अभिलाषा हरएकको होती है, परन्तु हरएक यह ही चाहता है, कि पूर्वोक्त पूर्व सप्तांगोंके अनुष्ठानके कष्टके विना ही समाधिकी सिद्धि प्राप्त होवे !!! परंतु यहां मैं कहता हूं कि यह आशा व्यर्थ है। ऐसा नहीं हो सकता। योग विद्याका जो लाभ है वह इस प्रकार नियम तोडनेसे नहीं प्राप्त हो सकता ।

यम नियमोंमें व्यक्ति और समाजके दैनंदिनीय व्यवहारके नियमोंका समावेश होता है। **आसनमें** शारीरिक योगके व्याया-

मके विविध प्रकार होतें हैं। **प्राणायाममें** श्वास उच्छ्वासके क्रियाओंका नियमन होता है। **प्रत्याहारमें** इंद्रियोंका संयम मुख्य है। **धारणामें** चित्तको एक स्थानमें स्थिर करना होता है, और **ध्यानमें** मानस उपासना करना होता है। जब ध्यानकी सिद्धि होती है तब समाधिकी प्राप्ति होनी है। ये सीढ़ियां एक दूसरेसे ऐसीं लगीं और जुडीं हैं, कि इनको बीचमें तोडना अपना नुकसान करना ही है। इन विषयोंपर विस्तारपूर्वक स्वाध्याय मंडलद्वारा पुस्तक लिखे जा रहे हैं, इस लिये यहां विशेष लिखना उचित नहीं है। परंतु इतना कहनेकी आवश्यकता है, कि बीचकीं सीढ़ियां छोडनेसे ऊपर चढना असंभव है। अब यहां बताना चाहता हूं कि पूर्वोक्त अंग स्पर्शके मंत्रोंका संबंध योगके किनकिन अंगोंसे है–

अंगस्पर्श मंत्र	योगके अंग
(××××)	(१) यम और (२) नियम।
बाह्वोर्मे बलमस्तु। ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु। अरिष्टानि मेंऽगानि०। बहु बाह्वोर्बलम्। ऊर्वोरोजो, जंघयोर्जवः। पादयोः प्रतिष्ठा। तनूस्तन्वा मे सहे। सर्वमायुरशीय। आयुः वर्धय। बाहुभ्यां यशोबलम्।	 (३) आसनं।

इससे पता लग जायगा कि अष्टांगयोगका संध्यामें कितना संबंध है। आसनोंके विना प्राणायामकी सिद्धि नहीं है, प्राणायामके विना धारणा नहीं हो सकती। इस प्रकार एक दूसरेका दृढ संबंध है। इसलिये निम्न प्रकार संध्याके पूर्व तैयारी करना चाहिए।

वेदका उपदेश यद्यपि आत्माके विषयमें प्रथम और शरीरके विषयमें पश्चात होता है तथापि अनुष्ठानके समय शरीर शुद्धिका अनुष्ठान प्रथम करना चाहिए और बाद इंद्रिय, मन, बुद्धि आदिकी शुद्धिका अनुष्ठान करना चाहिए। इस विचार अनुकूलके अंगस्पर्श करनेके पश्चात् निम्न प्रकार तैयारी करना चाहिए—

१ बाह्वोर्मे बलमस्तु ।....आसन....बाहुओंकी उन्नतिके लिये व्यायाम ।

२ ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु ।.... ,, ...जांघें और पांव आदिकी वृद्धिके व्यायाम ।

३ अरिष्टानि मेंऽगानि०।... ,, ...सब शरीरके स्नायुंओंको हृष्टपुष्ट करनेवाले व्यायाम।

आसन उन योगके व्यायामोंका नाम है, कि जिनसे सब शरीरके नस नाडियोंकी मलशुद्धि होकर सब शरीर भर रक्तका प्रवाह उत्तम रीतीसे होता है और सब शरीर नीरोग और बलवान होता है। आसनोंका सचित्र पुस्तक स्वाध्यायमंडलद्वारा तैयार हो रहा है। उसको देखनेसे इस आसन विधिका पूर्ण बोध हो सकता है। आसनोंद्वारा कई बीमारियोंका दूर होना प्रत्यक्ष अनुभवसे देखा है, इस लिये यह बात अब अनुभवकी है, न की केवल ग्रंथोक्त है। इसी लिये प्राणायामके पूर्व आसनोंको अवश्य करना चाहिए। प्राणायामसे प्राणवायुद्वारा प्राण शक्तिका प्रवेश रुधिरमें होता है। यदि आसनोंद्वारा रुधिरका प्रवाह सब शरीर भर होनेकी सुभिता साध्य न की जायगी तो प्राणायामका आयास निष्फल होगा। इस लिये संध्योपासनाके समय पूर्वाचमनके पश्चात सब शरीरके आसन अवश्य करना चाहिए। जो लोक आसन नहीं जानते उनको उचित है कि वे दण्डासन जिसको '**साष्टांगप्रणिपात**' कहते हैं प्राणायामके पूर्व कमसेकम सौ पचास वार अथवा अधिक वार अवश्य किया करें। यह भी न हो सके तो गौण पक्षमें दूसरे व्यायाम, जिनसे हृदयकी कमजोरी होनेका डर न हो और जिनसे सब शरीरके लिये व्यायाम हो सके, अवश्य किया करें। इस प्रकार सब शरीरका व्यायाम करनेसे रक्तका संचार सब शरीरभर ठीक

प्रकार होता है, और प्राणायाम द्वारा जो प्राण शक्ति अंदर प्रविष्ट होती है, उसका प्रचार सब शरीरके सब अवयवों तक पहुंच जाता है।

यहां इस बातको कहनेकी आवश्यकता है कि, 'बाह्वोर्मे बल मस्तु।' अर्थात् 'मेरे बाहुओंमें बहुत बल आ जावे' ऐसा कहते हुए, मनकी एकाग्रता अपने बाहुओंपर करके, पहिले बाहुओंपर शीत जलका अच्छा स्पर्श करनेके बाद, जो आसन आदिके अथवा अन्य प्रकारके बाहुओंके व्यायाम किये जाते हैं उनसे कमसे कम चौगुणा लाभ होता है। अर्थात् जो बाहुओंकी शक्ति और पुष्टी साधारण व्यायामके द्वारा एक महिनेमें साध्य होती है, उतनी शक्ति और पुष्टि, उक्त प्रकार मानसिक बलके साथ आसनादिके व्यायाम करनेसे, आठ दिनमें प्राप्त होती है। इस बातका अनुभव मैंनें बारबार लिया है और अन्योंपर भी वैसा ही देखा है इस लिये मुझे आश्चर्य प्रतीत होता है कि जो जो बातें हमारे वैदिक धर्ममें ऋषिमुनियोंनें सिद्ध करके रखीं हैं, उनसे जैसा लाभ हम लोक ले सकते हैं वैसा भी नहीं लेते, और विविध बीमारियोंमें सडकर कष्ट भोगते हैं। नहीं तो केवल संध्या ही ऐसी एक चीज है कि जिसको योग्य प्रकार कमसे कम दिनमें दोवार करनेसे आरोग्यकी प्राप्ति होती है। इस लिये बाल ब्रम्हचारी भीष्मपितामहनें दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उपायोंमें संध्योपासनाकी गिनती की है। देखिए—

ऋषयो नित्यसंध्यत्वात्।
दीर्घमायुरवाप्नुवन्॥ १८॥ महाभा. अनुशा. अ. १०४.

'नित्य प्रतिदिन संध्या करनेके कारण ऋषिमुनियोंको दीर्घ आयु प्राप्त हुआ था।' अस्तु। इस प्रकार सब शरीरके अवयवोंको आसनोंके द्वारा अच्छा व्यायाम देनेके पश्चात् प्राणायाम करना चाहिए।

'**नसो में प्राणोऽस्तु** ।' मेरी नासिकामें प्राण रहे, यह आशय प्राणायामके समय मनमें रहना चाहिए । और मनकी एकाग्रता नासिकाके श्वासोच्छ्वासमें होनी चाहिए । मनको किसी दूसरे स्थानमें दौडाना इस समय उचित नहीं है । जो आसन अथवा जो कार्य करना है उसीमें मनको स्थिर रखनेसे ही बहुत लाभ होता है । वैसा लाभ मनको इदर उदर दौडाते हुए मंत्रोच्चार आदि करनेसे नहीं हो सकता ।

इसके पश्चात आंख, कान और वाणीकी शुद्धिका कर्म करना चाहिए । '**त्राटक**' से आंखकी शुद्धि होती है । आंखका शीत जलका स्पर्श करके थोडासा मृदु मर्दन करना चाहिए । इससे आंखकी ओर रक्तका प्रवाह शुरू होता है । पश्चात् '**अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु** ।' मेरी आंखोंमें उत्तम दर्शनकी शक्ति रहे, ऐसी चित्तकी भावना करके आंखमें ही मनकी धारणा करना चाहिए । पश्चात् किसी अच्छे पदार्थका लक्ष्य करके स्थिर दृष्टीसे उसीकी ओर टकटकी लगाकर देखनेसे थोडी देरमें ऐसा चित्त जम जाता है कि उस पदार्थके सिवाय किसी अन्य पदार्थका भान नहीं होता । इस प्रकार करनेसे दृष्टि अच्छी होती है । तथा आंखकी पुतलीको (१) दाईं ओर, (२) बांईं ओर (३) ऊपर, (४) नीचे घुमानेसे आंखका व्यायाम होता है । तथा किसी बिलकुल पासके सूक्ष्म पदार्थके ऊपर दृष्टि रखकर एकदम अत्यंत दूरके पदार्थ पर दृष्टीको फेंकना, फिर झट् पास देखना, फिर दूर देखना; ऐसा करनेसे सब दृष्टीके दोष दूर होते हैं ।

कानके विषयमें इतना ही कहना है कि सूक्ष्मसे सूक्ष्म आवाज पर चित्त स्थिर करना चाहिए । शीत जलका स्पर्श करके मनकी वृत्तिको कर्णके श्रवण इंद्रियकी उन्नति करनेके लिये प्रेरित करना,

और मनकी भावना ऐसी रखना कि " आत्माकी श्रवणशक्तिसे ही मैं सुन सकता हूं, मेरे आत्माकी शक्ति कभी क्षीण नहीं होती, इस लिये मेरे कानकी अवस्था पूर्ण आयुके समाप्ति तक अच्छी रहेगी। निश्चयसे अच्छी रहेगी। मैं ऐसा कोई व्यवहार नहीं करूंगा कि जिससे मेरे कानकी शक्ति क्षीण हो सके। "

वाणीकी शुद्धिके विषयमें कण्ठ, जिह्वा आदि स्थानोंमें रहनेवाले वागिंद्रिय पर मनको एकाग्र करना चाहिए। तथा इस समय मनके द्वारा पक्का निश्चय करना चाहिए कि मैं कभी ऐसे शब्दोंका अपने मुखसे उच्चारण नहीं करूंगा कि जिनके कारण मेरी वाणी अपवित्र हो जावे। मैं सदा अच्छे शब्द बोलूंगा और अच्छा ही सुनूंगा। इत्यादि प्रकारसे वाक्शुद्धि हो जाती है। वाणीके अंदर उच्चारणके जो जो दोष होते हैं उनको मानसिक बलसे हटानेका यत्न यदि निश्चयपूर्वक इस प्रकार किया जायगा, तो उत्तम वक्तृत्व शक्ति प्राप्त हो सकती है। मुझे एक उदाहरण विदित है कि एक २२ वर्षका युवक था जिसको बोलनेके समय 'क्क्क्' करके बोलनेका बहुत बुरा अभ्यास था। संध्याके समय मानसिक बलके साथ इस दोषको हटानेका अभ्यास छे मास करनेसे उसका वह दोष दूर होने लगा और एक वर्षमें उसका वक्तृत्व बडा अच्छा हो गया!!!

मनुष्यके मन-बुद्धि-आत्मामें विलक्षण अद्भुत शक्ति है। एकाग्रताके अभ्याससे इन शक्तियोंका विकास हो कर आविष्कार होता है। इस एकाग्रताका अभ्यास संध्यामें किया जाता है। इससे पता लग जायगा कि संध्यासे कितना लाभ हो सकता है।

मनुष्यके अन्य शक्तियोंके विकासके विषयमें भी इसी प्रकार यत्न किया जा सकता है। शरीरके अंदर उदर, यकृत, प्लीहा आदिकी कार्य क्षमता भी इसी युक्तीसे बढाई जा सकती है तथा हरएक प्रकारकी उन्नति प्राप्त की जा सकती है। परंतु उसके पीछे

लग कर कार्य करनेवाले सदाचारी लोक चाहिए। बहुतस लोक ऐसे होते हैं कि एक दो दिन थोडासा प्रयत्न करनेके बाद झट कहने लगते हैं कि कुछ भी नहीं हुआ। यौंही गपोडे लिखे हैं। इसी लिये इस पुस्तकमें मैंनें वह ही बातें लिखीं हैं कि जिनका अनुभव मैंनें स्वयं अथवा मेरे मित्रोंनें लिया है। अस्तु। इस प्रकार अंगस्पर्श करके संध्याकी पूर्व तैयारी होगई है। इतना होनेके लिये कमसे कम आधा घण्टा लग जाता है। अब संध्याका प्रारंभ किया जाता है।

(२) संध्याका प्रारंभ।

मंत्राचमन।

आचमनके विषयमें पूर्वस्थलमें लिखा ही है। यहां 'शं नो देवी' आदि मंत्रसे तीन वार आचमन करना चाहीए। आचमनके समय मनका भाव ऐसा रखना चाहीए कि "यह जल बडा दिव्य गुणकारी है और इस जलके सेवन करनेसे मुझे शांति, नीरोगता और शारीरिक सुख निश्चयसे प्राप्त होगा।" जलके गुण वेदमें बहुत ही लिखे हैं, देखिए--

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा॥ ६॥
आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम॥ ७॥
इदमापः प्रवहत यत्किंच दुरितं मयि॥ ८॥ ऋ. १०।९.

'सोमने मुझे कहा कि जलके अंदर (विश्वानि भेषजा) सब औषधियां हैं। हे उदको! मेरे शरीरके लिये (वरूथं भेषजं) संरक्षक औषध दीजीए॥ इस जलसे मेरे शरीरके दोष दूर हो जांय॥' इस प्रकार जल ही औषध है इस विषयके अनेक मंत्र-वेदमें हैं। उनमेंसे थोडे देखीए—

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः॥
आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्॥

ऋ. १०।१३७।६

'जल निश्चयसे औषधी है, जलसे निश्चयपूर्वक रोग दूर होते हैं, जल सब रोगोंकी दवा है। वह जल तेरे लिये औषध होवे।' तथा—

आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु। घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु॥
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवाः। उदिदाभ्यः शुचिरापूत एमि।

ऋ. १०।१७।१० यजु. ४।२.

आपो अस्मान्मातरः सूदयन्तु। अथर्व. ६।५१।२

'जल हम सबको पवित्र बनावे। जलसे हम सबकी शुद्धता हो जावे। सब दोष जलसे धोये जांय। इस जलसे मैं शुद्ध और पवित्र बनूंगा।' अथर्व वेदके पाठमें '**आपः सूदयन्तु।**' अर्थात् 'जल आराम देवे' यह भाव है। इस प्रकार केवल एक जलसे ही सब बीमारियां दूर होतीं हैं इस विषयमें वेदका एक मत है। इसी उद्देशसे पूर्वोक्त आचमनके मंत्रमें कहा है कि 'यह दिव्य जल हम सबको शांति, आरोग्य और सुख देवे।' यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि, ऐसा कहने मात्रसे क्या लाभ हो सकता है? यदि जलसे आरोग्य हो सकता है, तो मानने और न माननेसे उसमें भेद क्यों होगा? अग्नीमें जलानेका गुण है, समझकर अथवा न समझकर भी उसका स्पर्श किया जाय गा तो अवश्य जलायेगा। ऐसी अवस्थामें मानने न मानने अथवा मनकी विवक्षित भावना रखनेसे क्या लाभ हो सकता है?

ये प्रश्न ऐसे लोक पूछा करते हैं, कि जो मनकी विविध शक्तियोंको जानते नहीं!! '**मनुष्य भावनामय ही है**' जैसी भावना रखेगा वैसा ही मनुष्य बन सकता है। यह बात देखी है, कि यदि किसी अच्छे अन्नको बुरे भावसे खाया जाय और यह उसका

पक्का विश्वास हो जाय, कि यह खाया हुआ अन्न मेरे पेटमें विकार उत्पन्न करेगा, तो अवश्य बीमारी पैदा होती है । इसलिये उपनिषद् में कहा है कि—

अन्नं न निंद्यात् तद्व्रतम् ॥ तै. उप. ३।७

'अन्नकी कभी निंदा न करो ।' क्यों कि निंदा करके भक्षण किया हुआ अन्न बिमारी उत्पन्न करता है । भोजन करनेके समय यही भावना रखना चाहिए कि 'यह अन्न बडा अच्छा है, इसको मैं खाकर अवश्य पचन करूंगा और इससे मैं अवश्य बलवान बनूंगा ।' यदि भावना दृढ होगी तो साधारण बुरा अन्न भी बाधक नहीं होगा । जो अन्नकी बात है वह ही जलके विषयमें बात है । यदि जलपानके समय मनमें यह बात खटकेगी कि 'कदाचित इस जलमें विविध रोगके कृमी होगें, ये कृमि शरीरमें जाकर रोग उत्पन्न करेंगे और मैं शायद रोगी बनूंगा ।' तो बहुत अंशमें पेटमें गडबड उत्पन्न होगी । इस लिये इस प्रकारकी बुरी भावना अपने पास नहीं करना चाहिए और ऐसी ही मनकी भावना करना चाहिए कि, **'यह दिव्य जल निःसंदेह मुझे शांति, आरोग्य और सुख देगा'** । न केवल जलके विषयमें परंतु सब पदार्थोंके सेवनके समय मनमें यह ही भावना धारण करना चाहिए । और जगत्की सब घटना की ओर चित्तकी प्रसन्नताके साथ देखना चाहिए । नहीं तो कई लोक सदा रोनेवाले होते हैं, वृष्टि लगी तो भी रोते रहेंगे, और न लगी तो भी रोयेंगे । ऐसे लोकोंके लिये यह जगत नहीं है । वेदका उपदेश है कि जगत्की पूर्णताका ही विचार करो और प्रसन्नताके साथ जगतकी सब घटनाओंसे मनकी वृत्तियोंमें आनंद और उल्हास रखो । इस लिये जलके सेवन करनेके समय उक्त शुभ भावना मनमें रखनेकी आवश्यकता है । देखीए शतपथमें कहा है—

अप उपस्पृशति.....तेन पूतिरन्तरतो
मेध्या वा आपः.... ॥ १ ॥
यद्वेवापः प्रणयति । अद्भिर्वा इदं सर्व
माप्तं तत्प्रथमेनैवैतत्कर्मणा सर्वमाप्नोति ॥ १४ ॥

शत. ब्रा. १।१।१।

' जलका आचमन करता है, उससे आंतरिक पवित्रता होती है क्योंकि जल पवित्र ह ॥ जल इस लिये ले आता है कि जलसे यह सब जगत् व्याप्त है, इसलिये इस पहिले ही कर्मसे सब प्राप्त करता है। ' इस वचनसे पता लगता है कि किस दृष्टिसे जलकी ओर देखना चाहिए। **' परमेश्वरका व्यापक शांत गुण '** जलरूपसे जगतमें आ गया है और सर्वत्र शांतता और सुख उत्पन्न करता है, इस पवित्र भावनासे जगतके जल तत्वकी ओर देखना चाहिए। इसी प्रकार अन्यपदार्थोंकी ओर देखना उचित है। जब इस दृष्टिसे देखा जायगा तब सब जगत्के विषयमें शुभ भावना मनमें स्थापित होगी। इस दृष्टिसे आचमनके मंत्रकी ओर देखिए।

जलका अन्य उपयोग करनेके समयमें भी यह ही भावना मनमें रखना चाहिए। आचमन करना, पीना, स्नान करना हाथ पांव धोना आदि किसी कार्यके लिये जलका उपयोग करना हो तो यही उच्च भावना-मनमें धारण करना चाहिए। कुतर्क न करते हुए यदि यह भावना मनमें स्थिर हो जायगो तो निःसंदेह जल सेवनसे पूर्ण लाभ हो सकता है। मनको इसी प्रकारका अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार आचमन करनेके पश्चात् इंद्रिय स्पर्श करना है।

इंद्रिय स्पर्श।

अंगस्पर्शके विषयमें जो पूर्वस्थलमें लिखा है उसका अनुसंधान यहां फिर करना चाहिए। 'नाभी, हृदय, कंठ, सिर और हाथ इन पांच अवयवोंके नाम यहां पूर्व की अपेक्षा अधिक आगये हैं नाम कितने भी आये हों अथवा न आये हों; नाम आने न आनेकी कोई विशेष बात नहीं। 'अरिष्टानि मे अंगानि।' इस वाक्यसे उक्त और अनुक्त सब अवयवों, अंगों और इंद्रियोंका बोध होता ही है। और इसीसे सूचना मिलती है कि न कहे हुए अवयवा और इंद्रियोंके विषयमें भी उन्नति करना उपासकका कर्तव्य है। यदि वह न करेगा तो वह अपने कर्तव्यसे गिरेगा।

'**नाभि**' शब्द शरीरकी मध्यवर्ति समान शक्तिका बोधक है, तथा जनन अथवा प्रजोत्पादन शक्तिका भी द्योतक है। ब्रह्मचर्य, वीर्यरक्षण, ऊर्ध्वरेता बननेके यौगिक विधि आदिसे नाभिस्थानकी शुद्धि होती है। और इसीसे इस स्थानकी शक्तिकी वृद्धि होती है। नाभिस्थानमें अनेक स्थानसे नस नाडियोंका संगम होता है, और इस स्थानमें समानशक्तिकी पूर्ण स्थिरता होनेसे सब शरीरका विशेष लाभ होता है।

'**हृदय**' भक्तिका स्थान है। परमेश्वरकी भक्तिसे इस हृदयका बल बढ जाता है। भक्तिसे हृदयके विविध शक्तियोंका विकास होनेसे उस उपासकके शब्दमें सिद्धिका बल आता है और जो वह कहता है सिद्ध हो जाता है। आज कल तर्क-वितर्क-कुतर्कका युग शुरू होनेसे भक्तिका अभाव हो रहा है, और इसी लिये भक्तियोगकी उक्त सिद्धिपर किसीका विश्वास नहीं बैठता। इसलिये इस एक नियमकी ओर सबका ध्यान आकर्षित होना आव-

श्यक है कि, (१) भक्तिकी अनियमितता होनेसे **'अंध विश्वास'** उत्पन्न होता है, (२) और तर्ककी अत्यंत वृद्धि होनेसे **'नास्तिकता'** आती है। दोनों घातक हैं, इसलिये वैदिक धर्ममें दोनोंका समभाव रखा है, देखीए—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ॥
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥

अथर्व. १०।२।२६.

'(अस्य) इसका (मूर्धानं हृदयं च) मस्तिष्क और हृदय (सं) एक करके (सीव्य) सीकर (पवमानः) पवित्र (अ-थर्वा) स्थितप्रज्ञ योगी (शीर्षतः अधि) सिरके ऊपर (मस्तिष्काद्) मस्तिष्कसे (ऊर्ध्वः) परे (प्रैरयत्) प्रेरित होता है।' अर्थात् **(१) मस्तिष्क और हृदयको एक बना कर सम उन्नत रखना, (२) और पवित्र बनकर मस्तिष्कके परे अर्थात् तर्ककी भूमीसे परे कूदना,** ये दो उपदेश इस मंत्रमें अत्यंत महत्व पूर्ण आगये हैं। किसी अन्य धर्म ग्रंथमें इस प्रकार इस बातको साफ नहीं किया है। यह केवल एक वेदका ही महत्वपूर्ण उपदेश है कि जो हृदय और मस्तिष्कको एक करनेके लिये बताता है। मस्तिष्कका कार्य तर्क-वितर्क-कुतर्क करना है और हृदयका कार्य भक्ति करना है। तर्क और भक्तिके जो नास्तिकता और अंधविश्वास परिणाम हैं, उनको हटानेके लिये वेदने सबसे उत्तम व्यवस्था कही है। तर्क और भक्तिका संयोग हो जानेसे तर्कसे भक्तिका दोष हटेगा और भक्तिसे तर्क पवित्र हो जायगा। और दोनों निर्दोष होनेके कारण मनुष्योंके अच्छे सहायक बन जांयगे। इस प्रकार हृदयकी पवित्रता और निर्दोषिता साध्य करना चाहिए। और इसीके साथ सिरको रखनेसे भक्तिके साहचर्यके कारण सिर भी पवित्र होगा।

कंठकी पवित्रताके विषयमें तथा हाथोंकी पवित्रताके विषयमें विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । इसी प्रकार इतर अवयवों, अंगों और इंद्रियोंके विषयमें सूज्ञ पाठक समझ लेंगें । सब शरीर इंद्रिय, मन तथा बुद्धि आदिके विषयमें अच्छा विचार करके दोषोंको दूर और गुणोंको पास करनेसे उन्नति होती है । सब स्थानकी पवित्रतासे उन्नति और अपवित्रतासे अवनति होती है । यह सार्वत्रिक नियम है ।

प्रत्येक इंद्रियपर हाथ रखकर, स्पर्श करके उसकी परीक्षा करना चाहीए । इंद्रियपर हाथ रखनेका यही तात्पर्य है । निरीक्षणकी दृष्टिसे यदि इंद्रिय स्पर्श न किया जाय तो उसका कोई लाभ नहीं है । सबको यहां ध्यानमें धरना चाहिए कि **दूसरोंकी परीक्षा करना सबसे आसान है और अपना निरीक्षण करना सबसे बडा कठिन है** । इसी लिये वैदिक धर्ममें 'आत्मपरीक्षण' पर सबसे अधिक बल दिया है ।

मार्जन ।

'**मार्जन**' का अर्थ शुद्ध करना, पवित्र बनाना अथवा निर्मल करना है । अंग स्पर्श तथा इंद्रिय स्पर्शके द्वारा अपने अवयवोंकी पुष्टि, वृद्धि और उन्नति साधन करनेका यत्न हो चुका है । पवित्रताके विना पुष्टि लाभ दायक नहीं हो सकती । (clean life) पवित्र जीवनके साथ(strong body) बलवान शरीर प्राप्त होना चाहिए, अन्यथा केवल बलवान शरीर अधिक दुराचार करनेमें प्रवृत्त होगा । अर्थात् पवित्रताके विना प्राप्त हुई शक्ति अपनाह घात करनेवाली हो सकती है । इस लिये शुद्धताकी प्राप्ति अवश्य करना चाहिए ।

नगरकी शुद्धि सर्वत्र साफसफाई करनेसे होती है, गृहकी शुद्धि झाडने, लोटने, लीपने आदिसे होती है, शरीरकी शुद्धि स्नान आदिसे होती है, इसी प्रकार प्रत्येक अंगकी शुद्धिका विशेष मार्ग है । जिस अवयवकी जिस प्रकार शुद्धि करना आवश्यक है उसी प्रकार उसकी शुद्धि करना चाहिए । अन्यथा लाभ नहीं हो सकता । संध्याके मार्जन विधिमें जो शुद्धिका साधन करनेका प्रकार लिखा है उसका तत्त्व निम्न प्रकार है ।—

(१) (भूः) अस्तित्व सिरकी पवित्रता करे । सिरमें मस्तिष्क है और यह विचारका स्थान है । मस्तिष्कमें सुविचार और कुविचार दोनों चलते हैं । सुविचारोंसे देवत्व और कुविचारोंसे राक्षसत्व प्राप्त होता है । **मनुष्य विचारमय है** । जैसे जिसके विचार होते हैं वैसा उसका **'स्व–रूप'** होता है । इस लिये अपने अस्तित्व (Existence) से अर्थात् अपने जीवनसे मस्तिष्ककी शुद्धि करना चाहिए । मस्तिष्ककी शुद्धि सबसे मुख्य है । मस्तिष्ककी पवित्रता और अपवित्रतासे मनुष्यत्व, देवत्व और असुरत्व सिद्ध होना है । इस लिये इसी मार्जनके सप्तम मंत्रमें (सत्यं) सत्यसे फिर सिरकी शुद्धि करनेकी सूचना दी है । अर्थात् अपने जीवनके साथ सत्यकी निष्ठा ऐसी जोडनी चाहिए, कि जिससे अपने अस्तित्वसे सत्य कभी दूर न होवे ।

(२) (भुवः) कल्पनाशक्ति अर्थात् चिंतन अथवा ज्ञानशक्ति अपने नेत्रोंको पवित्र करे । सबसे प्रथम मनुष्य मात्र अथवा प्राणि मात्र नेत्रोंसे ज्ञान लेता है । इस लिये ज्ञानसे ज्ञानेंद्रियोंकी पवित्रता करनेकी सूचना यहाँ लिखी है । नेत्रसे बुरी दृष्टिद्वारा किसीकी ओर नहीं देखना चाहिए । बुरी दृष्टीके प्रक्षेपसे ब्रह्मचर्यका नाश हो सकता है तथा अन्य प्रकारसे हानी होना संभव

है। इस लिये नेत्र आदि इंद्रियोंकी पवित्रता सिद्ध करना आवश्यक है। नेत्र आदि इंद्रियोंको इस प्रकार सुशिक्षित करना चाहिए कि वे कभी बुरे भावसे किसीकी ओर न देखें तथा किसी बुरे कर्ममें प्रवृत्त न होवें।

(३) (स्वः) अपना स्वत्व कंठकी पवित्रता करे। कंठ वाचाका प्रतिनिधि है। और वाचा शक्ति मनुष्यकी विशेष शक्ति है। इतर प्राणियोंमें वाचाशक्ति अस्फुट है परन्तु मनुष्यमें वक्तृत्वशक्ति स्फुट और परिपूर्ण है! इस लिये मनुष्यका 'स्व-त्व' वक्तृत्व शक्ति ही है। इसी कारण मनुष्यको चाहिए कि वह अपनी वक्तृत्व शक्तिकी पवित्रता करे। कोई ऐसा शब्द मुखसे उच्चारा न जाय, ऐसा वाक्य लेखमें लिखा न जाय, ऐसा शब्द कानसे सुना न जाय कि जो अपवित्रता उत्पन्न करनेवाला है। मुखसे बुरे शब्दोंका उच्चारण कदापि नहीं करना चाहिए।

(४) (महः) महानता हृदयकी पवित्रता करे। अपनी महानता (Our greatness) हृदयको पवित्र करे। उदारता, महत्व, दिलदार पन, बडापन आदि भाव जो मनुष्यमें होते हैं, उनसे हृदयकी पवित्रता संपादन करना चाहिए। उक्त गुण हृदयके ही है। इस लिये उनसे हृदयकी पवित्रता हो सकती है। हरएकको हृदयके उक्त गुण संपादन करना उचित है। केवल मस्तिष्ककी पवित्रता संपादन करनेसे कार्य नहीं चलेगा। क्यों कि मस्तिष्ककी केवल विचार शक्ति बढ जानेसे वह अंतमें नास्तिकतामें पहुंचाने वाली होती है। इस लिये उसके साथ हृदयकी गंभीरताको जोडना चाहिए। हृदयकी गंभीरता और गहनता ही मनुष्यका उदार चरित बनानेवाली है।

(५) (जनः) जननशक्ति नाभिस्थानकी पवित्रता करे। इस विषयमें पूर्वस्थलमें लिखा ही है। जननशक्ति वीर्यके बलकी सूचक है। इस स्थानकी पवित्रतासे ब्रह्मचर्य रक्षण तथा उत्तम संतानकी उत्पत्ति हो सकती है। इस विषयमें पाठक अधिक सोच सकते हैं।

(६) (तपः) तपने अर्थात् कष्ट सहनेकी शक्ति पांव आदि स्थूल अवयवोंको पवित्र बनावे यहांका 'पाद' शब्द कर्म इंद्रियोंका सूचक है। अन्य कर्म इंद्रियोंके विषयमें भी इसी प्रकार पवित्रता और शुद्धि संपादन करना चाहिए।

(७) 'सत्यके' विषयमें पूर्वस्थलमें लिखा है।

(८) (खं ब्रह्म) ओंकार वाच्य ब्रह्म सब प्रकारकी शुद्धि करे। पूर्वोक्त सात प्रकारोंसे सब अवयवों और अंगोकी शुद्धि करनेका प्रयत्न मानवी पुरुषार्थके साथ करनेके पश्चात् यहां परमात्माकी प्रार्थना की जाती है, कि जो हमारे प्रयत्नमें न्यूनता रहा होगी, उसको दूर करनेका कार्य परमात्माकी अपार दयासे होवे। क्यों कि केवल मानवी पुरुषार्थसे ही सब साध्य नहीं हो सकता। परमेश्वरकी दयाका आश्रय अवश्य होना चाहिए। किंवा इसका और एक भाव निकल सकता है:—ॐ अर्थात् (अ) जागृति, (उ) स्वप्न और (म्) सुषुप्तिका हमारा (खं) इंद्रिय व्यवहार तथा हमारा (ब्रह्म) ज्ञान सर्वत्र सब प्रकारकी पवित्रता करे।

'अ–उ–म्' ये तीन अक्षर जागृति-स्वप्न-सुषुप्तिके वाचक हैं, ऐसा मांडूक्य उपनिषदमें लिखा है। 'ख' शब्द इंद्रियवाचक तथा 'ब्रह्म' शब्द ज्ञानवाचक प्रसिद्ध है। इस विषयमें पाठक अधिक विचार कर सकते हैं। अस्तु। उक्त मार्जनके प्रकारोंका ठीक बोध होनेके लिये निम्न कोष्टक बनाया है—

मार्जनका कोष्टक।

व्याहृति	अर्थ	स्थानकी पवित्रता
भूः	अस्तित्व, सत् Existence	शिरः—सिरकी पवित्रता Purification of brain
भुवः	ज्ञान, चित् Knowledge	नेत्रौ—ज्ञानेंद्रियोंकी शुद्धि Purification of organs of perception
स्वः	आत्मा-(आनंद) Self-(Bliss)	कण्ठः--वागिंद्रियकी शुद्धि Purification of speech
महः	महत्व Greatness	हृदयं--अंतःकरणकी शुद्धि Purification of heart
जनः	जननशक्तिः Procreative power	नाभिः—नाभिस्थानकी शुद्धि Purity of virile power
तपः	तपस्। Power of endurance	पादौ--कर्मेंद्रियोंकी सहनशीलता Purity of the organs of action
सत्यं	सत्य Truth	शिरः--सिरकी शुद्धि Purity of thought
ॐ अ-उ-म्	जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति Waking, dreaming and sleeping conditions	सर्वत्र शुद्धि Purity of every thing
खं	इंद्रिय Organ of sense	
ब्रह्म	ज्ञान Knowledge	

इस कोष्टकसे बहुतसे बातोंका पता लग सकता है। पाठक भी इन शब्दोंके गूढ अर्थोंका विचार करें। विचार करनेसे जीवनकी शुद्धिका प्रकार ज्ञात हो सकता है।

मार्जनका मुख्य उद्देश 'आत्म–शुद्धि' है। प्रतिदिन संध्याके समय अपनी पवित्रताका निरीक्षण और परीक्षण करना चाहिए। प्रतिदिन मनको बुरे विचारोंसे रोकने और अच्छे विचारोंमें प्रवृत्त करनेसे सब प्रकारकी शुद्धि प्राप्त हो सकती है। जो प्रयत्न करेगा वह ही फल पा सकता है।

प्राणायाम ।

सप्त व्याहृति ।

'**व्याहृति**' का अर्थ 'उच्चार, statement, विधान, कथन, सांकेतिक शब्द, विशेष गूढ अर्थका शब्द है' संध्यामें सप्त व्याहृतियोंका महत्व अत्यंत है। सात मुख्य केंद्रोंकी सूचना इन शब्दोंसे हो रही है। (१) **अस्तित्व–सत्ता**: (२) **चिंतन, कल्पना, विचार, चित्**; (३) **स्वत्व, आत्मानुभव**: (४) **महत्त्व, उदारता**; (५) **जननशक्ती**: (६) **कष्ट सहनेकी शक्ति और** (७) **सत्य निष्ठा**; ये सात गुण मनुष्य मात्रकी उन्नतिके लिये आवश्यक हैं। इनके विना मनुष्यकी उन्नति साध्य नहीं हो सकती। इन शक्तियोंको प्राप्त करना, बढाना और जगतके उद्धारके लिये इनका अर्पण करना, सबको योग्य और आवश्यक है।

प्राणायाममें तीन क्रियाएं होतीं हैं। पूरक, कुंभक और रेचक। प्राप्ति, धारण और अर्पण ये तीन भाव यहां अभिप्रेत हैं। (१) पूरकसे बाह्य प्राणको अंदर लिया जाता है, (१) कुंभक

से उस प्राप्त प्राणकी धारणा की जाती है, और (३) रेचकसे उस प्राणका फिर जगतके सर्वव्यापक प्राणमें अर्पण किया जाता है। ये तीन प्रकार निम्न क्रियाओंके सूचक हैं। (१) **उक्त सप्त गुणोंकी अपने अंदर पूर्णता करना, (२) उनकी धारणा और वृद्धि करना, और पश्चात् (३) जगतकी उन्नतिके लिये उनका अर्पण करना।** प्राणायाममें उक्त सात व्याहृतियोंके होनेका यही तात्पर्य है। यह ही एक बडा भारी यज्ञ है।

यज्ञ

सत्कार	संगति	दान
प्राप्ति	धारणा	त्याग
पूरक	कुंभक	रेचक
गुणसंपादन	गुणसंवर्धन	गुणसमर्पण
ब्रह्मचर्याश्रम	गृहस्थाश्रम	वानप्रस्थ, संन्यास

ॐकारका स्मरण करके सात गुणोंका संपादन–संवर्धन–समर्पण करनेका अभ्यास संध्यामें किया जाता है। ये सब गुण परमात्माके अंदर अत्यंत पूर्णतासे हैं। मनुष्य उनको अभ्याससे अपने अंदर प्राप्त कर सकता है। प्रतिदिनके अभ्याससे मनुष्य अपने अंदर शुभ गुणोंकी वृद्धि कर सकता है और अशुभ दुर्गुणोंको दूर कर सकता है। निश्चयके साथ प्रयत्न करनेसे प्रत्येक मनुष्यको यह साध्य हो सकता है। प्रत्येक मनुष्यके आधीन है कि वह अपने मनमें विशिष्ट विचार लावे या न लावे। **मनुष्यका आत्मा मनका गुलाम नहीं है परंतु वह मनका स्वामी है।** यह बात कभी भूलना नहीं चाहिए।

पूर्वोक्त सप्तव्याहृतियोंके सूचक सात शुभगुण पूर्णतया परमात्माके अंदर विद्यमान हैं (१) भूः–सत्ता, प्राण, सब जगतका जीवन; (२) भुवः–अपान दुःख दूर करना, ज्ञान; (३) स्वः–सुख, आनंद, स्वत्व; (४) महः–महानता, सबसे बडा होना; (५) जनः–सबको उत्पन्न करनेकी शक्ति; (६) तपः–दुष्टोंको तपाना, दुष्टोंका दमन करना; (७) सत्यं–सत्य, त्रिकालाबाधित होना; आदि सात शुभ गुण मुख्यतया तथा पूर्णतया परमात्माके अंदर हैं । ये परमात्माके गुण उपासना द्वारा मनुष्य अपने अंदर लाता और धारण करता है । सब शुभ गुण इसी प्रकार मूल स्रोत परमात्मासे जीवात्माके अंदर आते हैं ।

जिस प्रकार ज्ञान गुरुसे प्राप्त करना, मननसे बढाना और पश्चात् उसका परोपकारके लिये विनियोग करना होता है; व्यायामादि द्वारा बल बढाना, और दूसरोंकी रक्षाके लिये उसका विनियोग करना होता है । उसी प्रकार सब शुभगुणोंकी प्रथम प्राप्ति करना, पश्चात उनकी वृद्धि करना और नंतर उनका परोपकारके लिये समर्पण करना होता है । ठीक उसी प्रकार सप्त व्याहृतियोंके सात गुण अपने अंदर बढा कर उसका परोपकारमें समर्पण करना है । परमेश्वरके ही गुण परमेश्वरके महान यज्ञमें लगाने हैं । लगानेमें स्वयं साधन रूप बनना है, इसी लिये सब धर्मके विधि और नियम हैं । गुण अपनेपास आनेके पश्चात् स्वार्थ उत्पन्न होता है और जनताकी उन्नतिमें बाधा उत्पन्न करनेमें मनुष्य प्रवृत्त होता है। ऐसी राक्षसी प्रवृत्ति नहीं होना चाहीए । यह ही यहां उपदेश है ।

प्राणायामसे बलकी वृद्धि.

प्राणायामसे सब शरीरका बल बढता है और मनकी शक्तिकी उन्नति होती है । परमात्माकी जीवन अर्थात् प्राणशक्ति सूर्यके

द्वारा सब वायूमें फैलती है, उस प्राणशक्तिसे संयुक्त हुआ वायू प्राणायाम द्वारा शरीरमें जाता है, वहां रुधिरके साथ संबंधमें आकर अपनी जीवनशक्ति को रुधिरमें स्थापित करता है और पश्चात बाहर आता है। यही प्राणायामके पूरक, कुंभक और रेचक हैं। यह जीवन शक्ति सब शरीरका आरोग्य स्थिर रखनेमें पूर्णतया समर्थ है, क्यों कि यह परमात्म–शक्ति होनेसे कोई दवा इसके बराबर उत्साह नहीं दे सकती। सूर्योदयके समय, मध्यान्हके समय, तथा सूर्यास्तके समय, प्राणायाम करनेसे मनका उत्साह इतना बढता है, कि उसके बराबर कोई उत्साह वर्धक औषध नहीं है। प्रतिवार सौपचास प्राणायाम अच्छी प्रकार करना उचित है।

शरीरमें किसी स्थानपर बीमारी होनेके समय, मनकी प्रेरणा और प्रबल इच्छा शक्तिद्वारा इस प्राणशक्तिको उस रुग्ण स्थानपर पहुंचानेसे बीमारी हटजाती है। इस प्रकार बिना औषध आरोग्य प्राप्त होनेके लिये प्रबल इच्छा शक्ति होनेसे सुफलता होती है इसमें कोई संदेह नहीं है। मनकी संशयित वृत्तिसे व्याधि बढती है।

प्राणायामसे प्राणोंका संयम होता है, उससे मन और चित्त स्वाधीन होता है, और मनके स्वाधीन होनेसे सब इंद्रियों और अवयवोंको स्वाधीन किया जाता है। यही इंद्रिय संयम है कि जो प्राणायामसे सिद्ध हो सकता है। अपने हरएक इंद्रियकी परीक्षा करके उसके दोष दूर करने और उसमें शुभगुण स्थापित करनेके लिये सदा प्रयत्न होना चाहिए।

अघमर्षण।

'अघ' शब्दका अर्थ 'पाप' है और '**मर्षण**' का अर्थ 'सहन करना' है। पापका परिणाम सहन करनेकी मनकी तैयारी करानेका प्रयोजन इस अघमर्षणके मंत्रोंसे यहां है।

अपनी ओरसे ज़ो दोष, पाप, दुराचार आदि होते हैं, उनकी क्षमाकी प्रार्थना करना, और उनके दंडसे बच जाना, मनुष्य-मात्रकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कोई भी साधारण मनुष्य कभी नहीं चाहता, कि मैं अपने किये दोषोंका दंड भोगूं। परंतु सब ऐसा ही चाहते हैं, कि किये हुए दोषोंके दंडसे मैं किसी न किसी प्रकार बच जाऊं। मनुष्यके अंदर यह बहुत बुरा भाव है। इसको हटाना संध्यायोगका मुख्य कर्तव्य है। न्यायानुकूल तो यही बात होनी चाहिए, कि जो जिसने जैसा पाप किया होगा, उसको वैसाही दंड भोगनेके लिये धैर्यके साथ तैयार होना चाहिए। पाप तो मैं करूं और दंड भोगनेके समय भाग जाऊं, यह भीरुता है। भीरुता धर्म नहीं हो सकता। धृति अर्थात् धैर्य ही धर्म है। पाप करनेके पश्चात् यही धैर्य है, कि उस किये हुए पापको मानना और योग्य दंड भोगनेके लिये आनंदसे सिद्ध होना। इस प्रकारकी धैर्यमय धार्मिक प्रवृत्तिको उपासकके अंदर बढानेका कार्य अघमर्षणके मंत्र कर रहे हैं।

कई लोक यहां पूछते हैं, कि प्रलयका वर्णन करनेवाले मंत्रोंका इस '**अघ-मर्षण**' के साथ क्या संबंध है? प्रथमतः ऊपर ऊपर देखनेके समय कोई संबंध प्रतीत नहीं होता। परंतु उसका आंतरिक संबंध बडा भारी है।

निद्रा, मृत्यु और प्रलय ये तीन प्रलय हैं। **निद्रा** दैनिक प्रलय है, **मृत्यु** प्रत्येक प्राणिमात्रका प्रलय है तथा **प्रलय** सर्व जगतका महाप्रलय है। मनुष्यके अंदर साधारणतः एक प्रवृत्ति होती है जो कहती है कि—

ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मी भूतस्य
देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ नास्तिक दर्शन।

"ऋण करके घी पिओ। जो मर्जी है करो, खाओ पीओ, आनंद करो। मृत्यु होनेके पश्चात् फिर पुनरागमन कहां है" अर्थात् इस जीवनके समयमें जो कुछ आप करगे उसका सुख या दुःख दूसर जन्ममें नहीं होना है। शरीरका नाश होनेसे उसके किये हुए सब पाप पुण्य शरीरके साथ नष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार जगतका प्रलय होनेके पश्चात् पूर्व जगतमें किये पापपुण्य भी समूल नष्ट हो जाते हैं।

सब नास्तिकोंका यह ही मत है। इस मतके कारण जगतमें बडा अनर्थ हो रहा है। सब अशांतिके मूलमें यही मत बैठा है। जैसा चाहे मैं आचरण करूंगा और दूसरोंकी पर्वाह न करता हुआ मैं सुखी हो जाऊंगा। यह मत राक्षसी और आसुरी प्रवृत्तिका है। इसका खंडन करना और न्यायानुकूल धार्मिक व्यवहारकी स्थापना करना वेदका उद्देश है। इस आसुरीमतके खंडनके लिये उक्त अघमर्षणके मंत्रोंमें कहा है कि—

धाता यथापूर्वमकल्पयत् ॥

'परमेश्वरनें पूर्व जगतके समान ही यह जगत बनाया है।' अर्थात् पूर्व जगतमें जिसनें दस आने पुण्य किया होगा उसका दस आने पुण्य इस जगतमें उसके साथ रहेगा तथा जो जैसा जिसने पाप किया होगा, उसके साथ वैसा ही पाप इस जगतमें रहेगा। अर्थात् मनुष्यके आधीन होगा कि वह अपना पुण्य बढावे अथवा पाप दूर करे।

कलका किया हुआ ऋण अथवा धन जैसा रात्रीके व्यतीत होनेसे नष्ट नहीं होता, जैसाका वैसा ही ऋण अथवा धन रहता है। उसी प्रकार पापपुण्य मृत्युके पश्चात् और प्रलयके नंतर भी वैसाका वैसा ही रहता है। मृत्यु अथवा प्रलयसे उसके पाप-

पुण्यकी स्थितिमें भेद नहीं होता । अर्थात् पापपुण्य फल भोगके पश्चात् ही दूर होते हैं, तबतक वे दूर नहीं होते । यह निश्चय उक्त मंत्रद्वारा यहां किया गया है । यह ही निश्चय न्यायानुकूल आचरण होनेके लिये अत्यंत आवश्यक है । किये हुए पापपुण्य फल भोगके विना दूर नहीं होते, ऐसा जब निश्चय होगा, तब अधिकारी अपने अधिकारके कारण दूसरोंको कष्ट नहीं दे सकेगा, धनवान अपने धनकी घमंडसे दूसरोंको हानी नहीं पहुंचाएगा, तथा अन्य मनुष्य दूसरोंके ऊपर निर्दयतासे अत्याचार नहीं करेंगे ।

जगतकी उत्पत्ति और प्रलयकी विशाल घटनाका एक वार संध्याके समय अवश्य विचार और मनन करनेका हेतु यह ही है कि ईशके ऋत और सत्य नियम संपूर्ण संसारमें किस प्रकार कार्य कर रहे हैं, महानसे महान शक्तिशाली मनुष्य चकनाचूर हो रहा है, बडे बडे राजे महाराजे जो विशाल सेनासमुद्रका धारण करके अपनी शक्ति की घमंडमें रहते हैं, नष्ट हो रहे हैं, जो अपने बाहुबलसे मस्त हो रहे हैं वे छोटेसे मनुष्यके कारण धूलीमें मिल रहे हैं, दूसरे धार्मिक लोक सदाचारमें रममाण होनेके कारण अकिंचन होनेपर भी सब लोकोंको वंदनीय बन रहे हैं, आत्मिक बल धारण करनेवालीं शरीरसे निर्बल और दुर्बल व्यक्तियां भी सम्राटोंका मुकाबला कर रहीं हैं और उनके ब्राह्मबलके सन्मुख बडे बडे सम्राटोंका विशाल क्षात्र बल क्षुद्र है ऐसा प्रतीत होने लगता है; इस प्रकारकी घटनाएं जब संसार भरमें देखीं जातीं हैं तब दृष्टि विशाल होती है, और दृष्टिकी संकुचितताके कारण जा मानसिक कमजोरियां होतीं हैं पार नष्ट होतीं हैं ।

जगतके अंदरकीं विशाल घटनाएं, मृत्युके और जन्मके विलक्षण चमत्कार, अद्भुत विशाल दृश्योंकी महानता, सूर्यचंद्रादि विशाल लोक लोकांतरोंका उद्भव और विनाश, शक्तियोंका संयोग और वियोग आदि सांसारिक घटनाओंका विचार करनेसे मनका संकोच दूर हो जाता है। मन विशाल होता है और सर्वजगत् की भावनाके साथ अपने छोटेपनका विचार मनमें आने लगता है। इस प्रकारके उदात्त विचारसे उनके मनमें बात ठीक जम जाती है कि परमात्माके ऋत और सत्य नियम मेरा पक्षपात नहीं करेंगे। सबके ऊपर उन नियमोंका सार्वभौम साम्राज्य एक जैसा ही रहेगा। जब इस प्रकार उनके मनमें भाव आ जाता है तब उनकी घमंड दूर हो जाती है और वह न्यायानुकूल अपना आचरण करनेके लिये तैयार होता है। और **अपने अन्यायका दंड भोगनेके लिये स्वयं तैयार हो जाता है।** यह ही सच्ची धार्मिक अवस्था है, जो जगतके प्रलय और उत्पत्तिका मनन करनेसे प्राप्त होती है।

इस विषयमें अधिक तर्कवितर्क करनेकी आवश्यकता नहीं। स्वयं संध्याके समय प्रलयकी वियोग स्थितिका मनन और उत्पत्तिके संयोग स्थितिका विचार करना। प्रतिदिन दो बार नित्य विचार करनेसे स्वयं अपने ही मनमें उक्त विचार उत्पन्न होने लगत हैं। मन विशाल होता है और मनका संकुचित भाव नष्ट होने लगता है।

जब जगतके प्रलयसे पूर्व पापपुण्य नष्ट नहीं होते तब मृत्युके कारण अथवा निद्राके कारण नष्ट नहीं हो सकेंगे। तथा शरीरके अंदरके सूक्ष्म प्रलयसे भी शरीरकृत पापपुण्य नष्ट नहीं होंगे।

पूर्ववत् वैसके वेसे ही फलभोग भोगनेके लिये पापपुण्य रहते हैं। यह निश्चय समझिए।

अब विचार यह आता है कि जब फलभोगके विना पापपुण्य छूटने ही नहीं हैं तब उनसे भागना व्यर्थ है। भाग कर भी कहां जांना है? परमेश्वरके ऋत और सत्य नियम संपूर्ण संसारभर एक जैसे निःपक्षपातसे अपना कार्य कर रहे हैं। उनको धोखा दे कर मैं कहीं भी जा नहीं सकता। ऐसा निश्चय होते ही उपासक अपना दिल खोल कर बाताता है कि "हे ईश्वर! ये ये.... पाप मैंने किये हैं, इनका दंड भोगनेके लिये मैं तैयार हूं। मैं फिर इस प्रकारके पाप नहीं करूं गा। परंतु इनसे भागना भी मैं नहीं चाहता। मैंनें पाप किया है इस लिये मुझे दंड लेना और भोगना चाहिए। इस कारण मैं दंड भोगनेके लिये तैयार हूं।"

स्वयं अपना न्याय करना कितना कठिन है? इसका विचार पाठक कर सकते हैं। दुराचार करके उसको छिपानेकी ओर मानवी प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्तिको वकील लोक बढा रहे हैं। इससे पता लगेगा कि वकीलोंके अदालतके कार्यसे मन कैसा पतित हो सकता है। दुराचारको छिपाना सर्वथा बुरा है। दुराचार होने पर उसको स्वयं मानना और उसके दंडके लिये सिद्ध होना धार्मिक भाव है। इस भावको बढाना चाहिए। अस्तु। यह धार्मिक अवस्था मनमें उत्पन्न करनेका कार्य अघमर्षणके मंत्र कर रहे हैं। इस प्रकारके विचारसे प्रलयके मंत्रोंका 'अघमर्षण'के साथ संबंध स्पष्ट प्रतीत होगा। अब अघमर्षणके मंत्रोंके विशेष शब्दोंका भाव देखेंगे—

(१) **ऋतं सत्यं च।**—'ऋत' अर्थात् right ठीक, शुद्ध, उचित, सरलतासे व्यवहार, न्यायानुसार व्यवहार, सीधापण।

'सत्य' अर्थात् sooth सत्य, यथार्थ, सच । ये दो जगतके अंदर चलनेवाले (eternal laws) अटल नियम हैं । कोई उनका उल्लंघन नहीं कर सकता । मनुष्यके आचरणमें इन नियमोंका पालन होनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है । न्यायानुकूल सत्य निष्ठापूर्वक व्यवहार करनेसे मनुष्य उच्च होता है ।

(२) **तपः**—कष्ट सहन करनेकी शक्ति । सत्कार्य करनेके समय जो कष्ट भोगने पडेंग उनको आनंदसे सहन करनेका धर्म सब महात्माओंमें होता है । तपके अन्य अर्थ—Meditation मनन, ध्यान, moral virtue नीतिधर्म, merit गुण सद्गुण । कष्ट सहन करनेकी शक्तिके विना किसी मनुष्यकी उन्नति नहीं हो सकती ।

(३) **रात्री**—रममाण होनेकी शांतिकी अवस्था ।

(४) **समुद्रः**—(सं+उत्+द्रुः)=(सं) एक होकर (उत्) उत्कर्षके लिये (द्रुः) प्रगति करना । प्रलय कालके पश्चात् जिस समय नवीन सृष्टि उत्पन्न होनेका समय आजाता है, उस समय प्रकृतिके परमाणुओंमें एक होकर जगत बननेके लिये बडी भारी गति हाती होती है । जिसका परिणाम परमाणुओंके विविध संघ बन कर सृष्टि बननेमें होता है । मनुष्योंकी उन्नतिके लिये भी यही नियम है । मनुष्योंको एक हो कर, एक विचारसे संघ बनाकर उन्नतिके लिये बडी हलचल करना चाहिए । देखिए वेदकी आज्ञा—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ॥
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

ऋ. १०।१९१।२

"(१) मिलकर संघ बनाइए, (२) उत्तम वक्तृत्व कीजिए, (३) अपने मन सुसंस्कृत कीजिए और (४) पूर्व ज्ञानी व्यवहारकर्ताओंके समान अपने कर्तव्यका भाग कीजिए।" यह ही भाव '**समुद्र**' शद्वसे व्यक्त होता है। '**सं–उत्–द्र**'–अर्थात् मिलकर उन्नतिके लिये प्रयत्न करना। पाठकोंको चाहिए कि वे सोचें कि वेदनें एक शद्वसे ही कितना उत्तम उपदेश दिया है।

(५) **अर्णवः**–Being agitated, being in motion हलचलमें रहना, क्षोभकी अवस्थामें रहना। हलचल ही अर्णवका स्वरूप है। पूर्वोक्त समुद्र शद्वका यह विशेषण है। पूर्वोक्त उन्नतिकी हलचल किस प्रकार करना चाहिए, इसकी सूचना यहां मिलती है। प्रकृतिके समुद्रमें जगत बननेके समय जो महान हलचल मची थी उसके स्वरूपका वर्णन यह शब्द कर रहा है। दोनों स्थानमें उन्नतिकी हलचल समान ही है। मनुष्य भी हलचल करनेके विना उन्नति प्राप्त नहीं कर सकते।

(६) **संवत्सरः**—(संवसन्ति इति)–जिसमें सब वसते हैं। सबका निवास जिसमें होता है। जिसमें सबको स्थान रहने विचरने किये प्राप्त होता है।

(७) **अ-हः**—(न जहाति)–जो किसीको छोडता नहीं। जो अवश्य सबके पीछे लगता ही है।

(८) **वशी**—सबको वशमें रखनेवाला ईश्वर। जगतके संपूर्ण पदार्थोंको वशमें रखता है। परमेश्वरकी इतनी शक्ति है कि वह महान महान लोकलोकांतरोंको सब प्रकारसे अपने आधीन रखता है। उपासकको चाहिए कि वह अपने शरीरके सब इंद्रियों और अवयवोंको अपने आधीन रखे। इंद्रिय–संयम और इंद्रिय-दमन करके मन आदि अंतरिंद्रियोंको भी पूर्णतया स्वाधीन रखे।

परमात्माके समान यह जीवात्मा भी अपने शरीरके व्यापारोंमें वशी हो सकता है। स्वराष्ट्र आदिके व्यवहारोंको भी अपने वशमें रख सकता है। मनुष्यको चाहिए कि वह अपने आपको शरीर, इंद्रिय, अवयव, मन, बुद्धि आदिका स्वामी समझे और उनको अपने आधीन रखे। कभी इंद्रियादिकोंके आधीन अथवा उनका गुलाम न बने।

(९) **धाता**—सबकी धारणा करनेवाला तथा सबको बनानेवाला ईश्वर है। उपासकको भी चाहिए कि वह अपने अंदर धारणा शक्ति बढावे तथा (creative faculty) उत्पादक और विधायक सद्बुद्धि की वृद्धि करे।

अन्य शब्दोंके विषयमें पाठक मनन कर सकते हैं। इस विचारसे पता लग सकता है कि वेदके शब्द मनुष्यको दैनिक व्यवहारका किस प्रकार बोध दे रहे हैं। वेदके शब्दोंका मुख्य उद्देश यह ही है कि मनुष्यको अपनी उन्नतिका मार्ग ठीक प्रकार सूचित करें। विचारी पाठकोंको चाहिए कि वे इसप्रकार बोध लेनेका यत्न करें और दोषोंको दूर करके गुणोंकी अपने अंदर धारणा करें।

मनसा परिक्रमण।

संध्याके मंत्रोंमें '**मनसा परिक्रमा**' के मंत्र बहुत कठीन हैं। कई वार और कई वर्ष मनन करने पर भी उनका ठीक ठीक अर्थ अबतक मेरे ध्यानमें नहीं आया है। इतना निःसंदेह प्रतीत होता है कि इन मंत्रोंमें कुछ विशेष उपदेशका कथन किया है। परंतु उस उपदेशका आविष्कार करना बडा कठिन हुआ है। सब शब्दोंके, व्याकरणादि साधनपूर्वक, अर्थ का ज्ञान होकर, वेदके अन्य स्थानोंके उल्लेखोंके साथ उसकी संगति लगा कर

जैसा बोध होता है, उस प्रकारका बोध इन मंत्रोंसे अबतक नहीं हुआ। इस लिये पाठकोंसे प्रार्थना है कि जो साधन अर्थ करनेके लिये यहां एकत्रित किये गये हैं, उन पर स्वतंत्रतापूर्वक विचार करके अपने विचार प्रसिद्ध करें, जिससे अर्थका निश्चय होनेमें सुगमता हो सकेगी।

'मनसा परिक्रमा'के मंत्रोंका विचार करनेसे पूर्व उन मंत्रोंमें जो जो मुख्य पदार्थ कहे हैं उनका निश्चित अर्थ समझना उचित है। इस अर्थका निश्चय करनेके लिये निम्न कोष्टक बनाये हैं। वेदमें दिशाओंके संबंधमें जो जो उल्लेक हैं, उन सब लेखोंको इकट्ठा करनेसे, और उन सबका मनन करनेसे '**मनसा परिक्रमा**'के मंत्रोंपर विशेष प्रकाश पडना संभव है। इस लिये निम्न कोष्टकोंका विचार पाठक अवश्य करें।—

दिशा कोष्टक ॥ १ ॥

दिशाः	अधिपतिः	रक्षिता	इषवः
प्राची	अग्निः	असितः	आदित्याः
दक्षिणा	इंद्रः	तिरश्चिराजी	पितरः
प्रतीची	वरुणः	पृदाकुः	अन्नं
उदीची	सोमः	स्वजः	अशनिः
ध्रुवा	विष्णुः	कल्माषग्रीवः	वीरुधः
ऊर्ध्वा	बृहस्पतिः	श्वित्रः	वर्षं

अथर्व. ३।२७।१-६।

पूर्वोक्त मनसा परिक्रमाके मंत्रोंको देखनेसे इस कोष्टककी सिद्धी हो सकती है। अब वेदमें अन्य स्थानमें आये हुए दिशा विषयक उल्लेखोंका विचार करना है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

ये स्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवा
स्तेषां वो अग्निरिषवः॥ ते नो मृडत ते नो
ऽधिब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा॥ १॥
ये स्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम
देवास्तेषां वः काम इषवः॥ ते नो०॥ २॥
ये स्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवा
स्तेषां व आप इषवः॥ ते नो०॥ ३॥
ये स्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवा
स्तेषां वो वात इषवः॥ ते नो०॥ ४॥
ये स्यां स्थ ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवा
स्तेषां व ओषधिरिषवः॥ ते नो०॥ ५॥
ये स्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवा
स्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः॥ ते नो०॥ ६॥

अथर्व. ३।२६। १–६

'प्राची आदि दिशाओंमें हेति आदि देव हैं और अग्नि आदि इषु हैं। ये सब (नः) हम सबको (मृडत) सुखी करें, वे हम-सबको (अधिब्रूत) उपदेश करें, उन सबको हमारा नमस्कार है, उनके लिये हमारा स्वार्थत्याग है।' यह इन मंत्रोंका भावार्थ है। अब इनका निम्न कोष्टक बनता है—

दिशा कोष्टक ॥ २ ॥

दिशाः	देवाः	इषवः
प्राची	हेतयः	अग्निः
दक्षिणा	अविष्यवः	कामः
प्रतीची	वैराजः	आपः
उदीची	प्रविध्यन्तः	वातः
ध्रुवा	निलिंपा	ओषधिः
ऊर्ध्वा	अवस्वन्तः	बृहस्पतिः

अथर्व. ३।२६।१-६ ।

पहिले कोष्टककी इस द्वितीय कोष्टकके साथ तुलना कीजिए। पहिले कोष्टकमें '**प्राची और ऊर्ध्वा**' के 'अग्नि और बृहस्पति' अधिपति हैं, वेही यहां 'इषु' बने हैं। '**ध्रुवा**' दिशाके इषु पहिले कोष्टकमें 'वीरुधः' हैं और यहां 'ओषधि' हैं। इन दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही है। '**प्रतीची**' दिशाका इषु दोनों कोष्टकोंमें 'अन्नं और आपः' है। खान पानका परस्पर निकट संबंध है। '**दक्षिण**' दिशाके इषु दोनों कोष्टकोंमें 'पितरः और कामः हैं। काम के उपभोगसेही पितृत्व प्राप्त हो सकता है। '**उदीची**' दिशाके इषु 'वात और अशनि' हैं। अशनिका अर्थ विद्युत है और उसका स्थान मध्यस्थान अर्थात् वायुका स्थान माना गया है। इससे पाठकोंको पता लग जायगा कि केवल 'प्राची और ऊर्ध्वा' दिशाओंके इषु बदले हैं, इतनाही नहीं

परन्तु पहिले कोष्टकमें जो अधिपति थे वेही दूसरेमें इषु बने हैं। अन्य दिशाओंके इषु समान अथवा परस्पर संबंध रखनेवाले हैं। अथर्व वेदके तीसरे कांडके २६ और २७ सूक्तोंके कथनमें इतना भेद है। इस भेदसे स्पष्ट होता है कि इषु, अधिपति आदि शब्द वास्तविक नहीं हैं परंतु आलंकारिक हैं। अब निम्न मंत्र देखिए—

> प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथंतरं साम
> त्रिवृत्स्तोमा वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥ १० ॥
> दक्षिणामारोह त्रिष्टुप्त्वावतु बृहत्साम पंच
> दशस्तोमो ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥ ११ ॥
> प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपं साम
> सप्तदश स्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम् ॥ १२ ॥
> उदीचीमारोहानुष्टुप्त्वावतु वैराजं सामै
> कविंशस्तोमः शरदृतुः फलं द्रविणम् ॥ १३ ॥
> ऊर्ध्वामारोह पंक्तिस्त्वावतु शाक्वररैवते सामनी
> त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू
> वर्चो द्रविणम् ॥ १४ ॥

यजु. अ. १०.

'प्राची आदि दिशाओंमें (ब्रह्म द्रविणं) ज्ञान आदि धन है। इन मंत्रोंका स्पष्टीकरण निम्न कोष्टकसे हो सकता है—

दिशा कोष्टक ॥ ३ ॥ (यजु. १०।१०-१४)

दिशाः	रक्षक छंदः	साम	स्तोमः	ऋतुः	द्रविणं धनं
प्राची	गायत्री	रथंतरं	त्रिवत्	वसन्तः	ब्रह्म
दक्षिणा	त्रिष्टुप्	बृहत्	पंचदशः	ग्रीष्मः	क्षत्रं
प्रतीची	जगती	वैरूपं	सप्तदशः	वर्षा	विट्
उदीची	अनुष्टुप्	वैराजं	एकविंशः	शरद्	फलं
{ ध्रुवा ऊर्ध्वा }	पंक्तिः	{ शाक्करं रैवतं }	{ त्रिणव त्रय-स्त्रिंश }	हेमन्तः शिशिरः	वर्चः

इस कोष्टकमें दिशाओंके धनोंका पाठक अवश्य अवलोकन करें (१) **प्राची** दिशाका धन (ब्रह्म knowledge) ज्ञान है। (२) **दक्षिण** दिशाका धन (क्षत्र valour) शौर्य है। (३) **प्रतीची** दिशाका धन (विश्* enter-prise) उत्साहसे पुरुषार्थ करनेकी शक्ति है । (४) **उदीची** दिशाका धन फल fruit, result, profit) फल परिणाम लाभ आदि है। (५) **ध्रुवा** और **ऊर्ध्व** दिशाका धन (वर्चः (vigour, power, energy) शक्ति, बल आदि है। ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ प्रयत्न, लाभ और वीर्यतेज ये उक्त दिशाओंके धन हैं। इसकी तुलना प्रथम कोष्टकके साथ करनेसे बहुत अर्थका

---

* विश् to enter, enter into, undertake, be absorbed into,begin, attend to; प्रवेश करना, पुरुषार्थका प्रारंभ करना, तल्लीन होन, आरंभ करना ।

गौरव प्रतीत होगा। पाठकोंनें यहां जान लिया होगा कि उक्त गुण विशेष वर्णोंके होनेसे उक्त दिशाओंका संबंध उक्त वर्णोंके साथ भी है। ब्राह्मणोंका ज्ञान, क्षत्रियोंका शौर्य, वैश्योंका पुरुषार्थ, शूद्रोंके हुनरका लाभ और सब जनताका वीर्यतेज सब राष्ट्रके उद्धारका हेतु है। तथा प्रत्येक व्यक्तिमें ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ, फलप्राप्ति तक प्रयत्न करनेका गुण और वीर्यतेज चाहिए। इस प्रकार व्यक्तिमें और राष्ट्रमें उक्त गुणोंका संबंध है। इस संबंधको स्मरण रखते हुए पाठक निम्न मंत्र देखें—

> प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि
> दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥
> प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेहि
> उत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम् ॥
> ऊर्ध्वायां दिश्यजस्यानूक्यं धेहि
> दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यम्० ॥८॥ अथर्व. ४।१४।

'प्राची दिशामें (अजस्य) अजन्मा जीवका सिर रखो तथा अन्य दिशाओंमें अन्य अवयव रखो।' इन मंत्रोंमें अवयवोंका दिशाओंके साथ संबंध बताया है। निम्न कोष्टकसे इसका भेद स्पष्ट होगा—

दिशा कोष्टक ॥ ४ ॥ (अथर्व. ४।१४।७-८)

प्राची......शिरः..........मस्तक............Head
दक्षिणा....दक्षिणं पार्श्वं...दहनी बगल......Right side
प्रतीची....भसदं.........गुप्त भाग.........Private part.
उदीची....उत्तरं पार्श्वं......बायी बगल......Left side
ध्रुवा......पाजस्यं.........पेट............Belly
ऊर्ध्वा......आनूक्यं........पीठकी हड्डी......Spine

इस कोष्टकके साथ पूर्वोक्त तीसरे कोष्टककी तुलना कीजिए। ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ, और फलका संबंध सिर, बाहू, मध्यभाग और निम्न भागके साथ यहां लिखा है। ज्ञान, शौर्य पुरुषार्थका संबंध गुणरूपसे प्रत्येक व्यक्तिमें है और वर्ण रूपसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंमें अर्थात् राष्ट्र पुरुषके अवयवोंमें है। इस प्रकार वर्णोंका संबंध दिशाओंके साथ स्पष्ट है। यह संबंध ध्यानमें धर कर विचार करते हुए आप निम्न मंत्र देखीए—

प्राचीं प्राचीं प्रदिशमारभेथामेतं लोकं
श्रद्दधानाः सचन्ते ॥ यद्वां पक्वं परिविष्ट
मग्नौ तस्य गुप्तये दंपती संश्रयेथाम् ॥ ७ ॥
दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथा
मभि पात्रमेतत् ॥ तस्मिन्वां यमः पितृभिः
संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नियच्छात् ॥ ८ ॥
प्रतीचीं दिशामियमिद्वरं यस्यां सोमो
अधिपा मृडिता च ॥ तस्यां श्रयेथां सुकृतः
सचेथामधा पक्वान् मिथुना संभवाथः ॥ ९ ॥
उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद्दिशामुदीचीं कृणवन्
नो अग्रम् ॥ पांक्तं छंदः पुरुषो बभूव
विश्वैर्विश्वांगैः सह संभवेम ॥ १० ॥
ध्रुवेयं विराण्नमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्यः
उत मह्यमस्तु ॥ सा नो देव्यदिते विश्ववार
इर्य इव गोपा अभि रक्ष पक्वम् ॥ ११ ॥

अथर्व १२।३.

(१) (प्राचीं) पूर्व दिशा प्रगतीकी दिशा है, इसमें (आरभेथां) उत्साहके साथ पुरुषार्थका आरंभ कीजीए (एतं लोकं)

इस उन्नतिके लोकमें (श्रद्दधानाः) श्रद्धा धारण करनेवाले ही पहुंचते हैं। जो (वां) आप दोनोंका अग्निमें प्रविष्ट होकर (पक्वं पका हुआ अन्न होगा, (तस्य गुप्तये) उसकी रक्षाके लिये (दंपती) स्त्रीपुरुष (संश्रयेथां) प्रयत्न करें ॥ (२) इस दक्षिण दिशामें जब आप (अभि नक्षमाणौ) सब प्रकारसे प्रगति करते हुए इस (पा–त्रं) योग्य अथवा संरक्षक कर्मका (अभि पर्यावर्तेथां) सब प्रकारसे वारंवार अनुष्ठान करेंगे, तब आपके (पक्वाय) परिपक्वताके लिये (पितृभिः) रक्षकोंके साथ (संविदानः यमः) ज्ञानी नियामक (बहुलं शर्म) बहुत सुख देगा॥ (३) (प्रतीचीं) पश्चिम दिशा यह सचमुच (वरं) श्रेष्ठ दिशा है, जिसमें (सोमः) विद्वान और शांत अधिपति और (मृडिता) सुख देनेवाला है। इस दिशाका आश्रय कीजिए, सुकृत करके परिपक्वताको (सचेथां) प्राप्त कीजिए। और (मिथुना) स्त्रीपुरुष मिलकर (संभवाथः) सुसंतान उत्पन्न कीजिए ॥ (४) उत्तर दिशा (प्र-जया) विजयशाली राष्ट्रीय दिशा है, इस लिये हम सबको यह उत्तर दिशा (अग्रं) अग्र भागमें ले जावे। (पांक्तं) पांच वर्णों–राष्ट्रके विभागोंका (छंदः) छंद ही यह पुरुष होता है। इन सब अंगोंके साथ हम सब (सं भवेम) मिलकर रहेंगे ॥ (५) यह ध्रुव दिशा (विराट्) बडी भारी है। इसके लिये नमन है । यह मेरे लिये तथा बालबच्चोंके लिये (शिवा) कल्याणकारी होवे। हे (अ–दिते देवि) हे स्वतंत्रता देवि ! (विश्व–वारे)सब आपत्तियोंका निवारण करनेवाले देवी ! तूं (गोपा) हम सबका संरक्षण करती हुई, हमारी परिपक्वताको सुरक्षित रखो ॥

इन मंत्रोंमें दिशाओंके विषयमें कई विशेष बातें बताईं हैं। इनके मुख्य सूचक शब्दोंका निम्न कोष्टक बनता है।

दिशा कोष्टक ॥ ५ ॥ (अथर्व. १२।३।७–११)

दिशा	कर्म	साधन	साधक	क्रिया
प्राची	आरंभ	श्रद्दधानः	दंपती	संश्रयेथां
दक्षिणा	पर्यावर्तनं	नक्षमाणः	यमःसंविदानः	नियच्छात्
प्रतीची	आश्रयः	सुकृतः	मिथुनः	संभवाथः
उदीची	प्र–जयः	पांक्तं छंदः	पुरुषः	सह संभवेम
ध्रुवा	वि–राट्	शिवा	विश्ववारा अदितिः	रक्ष

इस कोष्टकसे साधारणरूपमें पता लग जायगा कि दिशाओंके उक्त नाम किस बातके सूचक हैं। और इन सूचक नामोंमें कैसा उत्तम तत्वज्ञान भरा है। इन मंत्रोंको देखनेसे निम्न बातोंका पता लगता है—

(१) **प्राची दिशा**—(प्र–अंच् to advance, promote, goin front) आगे बढना, उन्नति करना, अग्रभागमें हो जाना, यह मूल अर्थ '**प्रांच्**' धातुका है, जिससे '**प्राची**' शब्द बनता है। '**प्राची दिशा**' का अर्थ direction of advancement and progress बढती अथवा उन्नतिकी दिशा, वृद्धिका मार्ग।

उन्नतिके लिये विविध कर्म प्रारंभ करनेकी अत्यंत आवश्यकता होती है। पुरुषार्थोंका प्रारंभ करनेके विना उन्नतिकी आशा करना व्यर्थ है। उत्साहसे पुरुषार्थ करनेके लिये श्रद्धा चाहिए।

श्रद्धाके विना उत्साह प्राप्त नहीं हो सकता। जगतमें स्त्रीपुरुष मिलकर ही विविध पुरुषार्थोंका साधन करते हैं। उनके परस्पर मिलकर रहनेसे ही संसारमें सब भोगोंकी परिपक्वता और (गुप्ति) संरक्षण हो सकता है। इस प्रकार प्राची दिशासे बोध मिलता है।

(२) **दक्षिण दिशा—'दक्षिण'** शब्दका अर्थ Right, able, clever, straight forward, candid, sincere, dexterous, दक्ष, ठीक, योग्य, प्रबुद्ध, सीधा, सच्चा है। 'दक्षिण दिशा' शब्दोंका मूल अर्थ right direction सीधा मार्ग, सच्चा मार्ग ऐसा ही है। पश्चात् इसका अर्थ 'सीधे तरफ् की दिशा' हो गया है।

उन्नतिके लिये सीधे और सच्चे मार्गसे चलना चाहिए। और (नक्षमाण) गति अथवा हलचल किंवा प्रयत्न करना चाहिए अन्यथा सिद्धि होना असंभव है। एक वार प्रयत्न करनेसे सिद्धि न हुई तो वारंवार पुरुषार्थ करना आवश्यक है, इसी की सूचना '(पर्यावर्तेथां, परि-आ-वर्तेथां) वारंवार प्रयत्न कीजिए' इन शब्दों द्वारा मंत्रमें दी है। 'यम' शब्द नियमोंका सूचक, 'पितृ' शब्द जननशक्ति और संरक्षणका सूचक, तथा 'संविदान' शब्द ज्ञानका सूचक है। नियम, स्वसंरक्षण और ज्ञानसेही शर्म अर्थात् सुख होता है। यह दक्षिण दिशाके मंत्रसे बोध मिलता है।

(३) **प्रतीची दिशा—प्रत्यंच्** to turn inward अंदर आना, अंतर्मुख होना। प्रतीची दिक् direction of repose शांतिकी दिशा, अंदर मूल स्थानपर आनेकी दिशा, स्वस्थानपर आनेका मार्ग, अंतर्मुख होनेका मार्ग, यह इस शब्दका मूल अर्थ है। 'पूर्व दिशा'को आगे बढनेका मार्ग कहा है और पश्चिम दिशाको फिर वापस होकर अपने मूल स्थानपर आकर विश्राम लेनेकी दिशा कहा है—

प्रतीची	**प्राची**
(प्रति–अंच्)	(प्र–अंच्)
turning inward	going forward
Rest, repose	Pro-gress
प्रति–गति	प्र–गति
प्रति–गमन	प्र–गमन
नि–वृत्ति	प्र–वृत्ति.

दिशाओंके नामोंसे जो भाव व्यक्त होते हैं, उनका पता इस कोष्टकसे लग सकता है । वैदिक शद्बोंका इस प्रकार महत्व देखना चाहिए ।

निवृत्ति, विश्रांति अथवा स्व–स्थताका स्थान ही श्रेष्ठ (वरं) होता है । शांतिसे भिन्न और श्रेष्ठता क्या होगी ? सोम ही शांतताकी देवता है । सूर्यके प्रखरतर प्रचंड किरणोंके तापसे संतप्त मनुष्य चंद्र (सोम) के शीत प्रकाशसे शांत, संतुष्ट और आनंदित होता है । सुकृत अर्थात् धार्मिक पुण्य कर्मोंका मार्ग ही इस शांतिको प्राप्त कर सकता है, इत्यादि भाव इस मंत्रसे ज्ञात होते हैं।

(४) **उत्तर दिशा**—(उत्–तर) अधिक उच्च तर, अधिक श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त करनेका मार्ग direction of betterment ऐसा इसका मूल अर्थ है । मनुष्योंकी उच्च तर अवस्था होनेके लिये राष्ट्रकी कल्पना कारण होती है, क्योंकी—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षा मुपसेदुरग्रे ॥
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥

अथर्व. १९।४१।१.

'लोकोंका कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले ज्ञानी ऋषिमुनियोंनें तप किया और दक्षतासे व्रत किया। उससे राष्ट्र, बल और ओज उत्पन्न हुआ, इस लिये सब देव उस राष्ट्रीयताके सन्मुख नम्रता धारण करें।' राष्ट्रीयताके साथ लोक—कल्याणका भाव इस प्रकार वेदनें वर्णन किया है। लोक कल्याण ही लोकोंकी उच्च तर अवस्था है। राष्ट्रीय भावनाकेअंदर (**नः अग्रं कृण्वन्**) 'हम सबको अग्र भागमें होनेके लिये प्रयत्न' करना आवश्यक है। राष्ट्र (पांक्त five-fold) पांच विभागोंमें विभक्त है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद, अथवा ज्ञानी, शूर, व्योपारी, कारीगर और साधारण जन मिल कर राष्ट्रके पांच अवयव होते हैं। इन पांच प्रकारके जनोंका कल्याण करनेकी (छंद liking) प्रबल इच्छा जिसमें होती है, वह ही सच्चा '**पुरुष**' कहा जा सकता है। पुरुष उसको कहते हैं कि जो (पुरि) नगरीमें (वसति) निवास करता है। नागरिक जन जो 'लोककल्याण' करता है, वह ही सच्चा पुरुष है। सब अंगोंसे उसकी पूर्णता होती है और उन्नतिके लिये (सं भवेम become united) सब मिल कर एकत्रित होनेकी आवश्यकता है। यह बोध उत्तर दिशाके मंत्रके शब्दोंसे टपकता है।

(५) **ध्रुवा दिक्**—स्थिरता (stability)का धर्म यहां बताना है। मनुष्यके व्यवहारोंमें चंचलता (fickleness) कामकी नहीं हैं। स्थिरता, दृढता, निश्चितता उन्नतिकी साधक है। सबका (शिवा) कल्याण इस गुणसे होता है। स्थिरताका मार्ग (direction of stability) योग मार्ग है जिसमें चंचलताको दूर करके स्थिरताकी प्राप्ति की जाती है। इससे सबका हित होता है। यह ही (अ-दिति) अविनाशकी देवता अथवा स्वतंत्रताकी देवता है। स्थिरताके विना स्वतंत्रता की प्राप्ति

नहीं हो सकती । (गो-पा) इंद्रियोंका संरक्षण अर्थात् संयम इस मार्गमें अत्यंत आवश्यक है । इस प्रकार ध्रुव दिशाके मंत्रोंसे बोध प्राप्त होता है ।

मंत्रोंकी शब्द योजना कितनी अर्थपूर्ण है, इसका विचार पाठक यहां कर सकते हैं । इन मंत्रोंके साथ अपने संध्याके मंत्र मिला कर पढना चाहिए जिससे बहुत अर्थका लाभ हो सकता है । अस्तु । दिशा विषयक उल्लेख ऋग्वेदमें नहीं है । इस लिये अब इस सब विवरणका एकीकरण करना चाहिए । इसके पूर्व निम्न मंत्र देखेंगे—

प्राच्यै त्वा दिशेऽग्नयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र आदित्यायेषुमते ॥ एतं परिदद्मस्तं नो गोपायता मस्माकमैतोः ॥ दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥ ५५ ॥ दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते ॥ एतं० ॥ ५६ ॥ प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रेऽन्नायेषुमते ॥ एतं० ॥५७॥ उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये स्वजाय रक्षित्रेऽशन्या इषुमत्यै ॥ एतं० ॥ ५८ ॥ ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कल्माषग्रीवाय रक्षित्र ओषधीभ्य इषुमतीभ्यः ॥ एतं ॥ ५९ ॥ ऊर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतयेऽधिपतये श्वित्राय रक्षित्रे वर्षायेषुमते ॥ एतं ॥ ६० ॥ अथर्व. १२।३.

ये मंत्र और संध्याके मंत्र प्रायः एक जैसे शब्दोंसे बने हैं । इस लिये संध्याके मंत्रोंका अर्थ समझनेसे इनका भी अर्थ समझ सकता है । “ प्राची दिशा, अग्नि अधिपति, असित रक्षिता और

इषुमान् आदित्यके लिये (एतं) यह दान (परि दद्मः) देते हैं। (अस्माकं आ-एतोः) हमारे दुष्ट भावोंसे हम सबका (नः गोपायतां) संरक्षण करें। (अत्र) यहां (नः) हम सबको (दिष्टं) अच्छी धर्मकी प्रेरणा (जरसे) वृद्ध अवस्था तक (नि नेषत्) ले जावे। (जरा मृत्यवे) वृद्ध अवस्था मृत्युको (नः परि ददातु) हम सबको देवे। (अथ) और (पक्वेन) परिपक्वके साथ (सं भवेम) संभूति अर्थात् उन्नतिको प्राप्त हो जावें।" यह प्रथम मंत्रका अर्थ है। शेष भाव सुगम है।

इन मंत्रोंमें (१) दान, (२) स्वसंरक्षण, (३) दुष्टभावको दूर करना, (४) धर्मकी प्रेरणाके साथ पूर्ण वृद्ध अवस्थाका अनुभव लेनेके पश्चात् अर्थात् दीर्घ आयुकी समाप्तिके पश्चात् मरनेकी कल्पना, और (५) परिपक्व (बुद्धिके सज्जनों) के साथ अर्थात सत्संगमें रहनेका उपदेश है।

प्रारंभसे यहां तक दिशा विषयक जो कोष्टक और मंत्र दिये हैं उन सबका एकीकरण पूर्वक विचार करनेसे मनसा परिक्रमाके मंत्रोंका बोध होना संभव है। इस लिये उसका मनन करेंगे। मनसा परिक्रमाके मंत्रोंमें अग्नि आदि शब्दोंसे परमात्माका बोध लेकर सब मंत्र परमात्मापर घटानेका सांप्रदाय सुप्रसिद्ध है। परंतु इस विषयमें निम्न बातोंका अवश्य विचार होना चाहिए--

> प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षिताऽऽदित्या इषवः॥ तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु॥ योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ अथर्व ३।२७।१

इस मंत्रका अब विचार करना है। इसका विचार होनसे अन्य सब मंत्रोंका विचार हो सकता है। पूर्व स्थलमें, जहां

दिशाओंका द्वितीय कोष्टक दिया है वहां, बताया है कि अधिपति, इषु, रक्षिता आदि शब्द आलंकारिक हैं, इस लिये इनका अर्थ काव्य कल्पनाके अनुसार लेना चाहिए।

(१) **अधिपति, रक्षिता, इषवः** आदि शब्द आलंकारिक हैं क्यों कि वर्षा, वीरुधः आदिकोंको भी बाण कहा है। वस्तुतः ये बाण नहीं हैं। इस कारण कवीकी आलंकारिक दृष्टिसे इनका अर्थ लेना उचित है।

(२) मंत्रके प्रथम पादमें **अधिपति, रक्षिता** ये शब्द एक वचनमें हैं, परंतु द्वितीय चरणमें इन ही शब्दोंका बहुवचन लिखा है। एक वचनका शब्द परमेश्वर पर माना जा सकता है परंतु '**अधिपतिभ्यः, रक्षितृभ्यः**' शब्द बहुवचन होनेके कारण परमेश्वर पर नहीं माने जा सकते। आदरार्थक बहुवचन मान-नेके पक्षमें पूर्वचरणमें एक वचन आया है उसकी निरर्थकता होती है। वेदमें किसी स्थान पर **एक मंत्रमें** परमेश्वर वाचक शब्दोंका एक वचन और बहुवचन आया नहीं है। इस लिये यहां इन शब्दोंके अर्थ परमेश्वर पर होनेमें शंका है।

(३) प्रत्येक दिशाका **अधिपती रक्षिता** और इषु भिन्न हैं। यदि ये परमेश्वर पर शब्द हैं तो भिन्नताका कोई तात्पर्य निकल नहीं सकता।

(४) तृतीय चरणमें '**जो हम सबका द्वेष करता है और जिसका हम सब द्वेष करते हैं उसको** (वः जम्भे) **आप सबके एक जबडेमें हम सब देते हैं।**' इस आशयके शब्द आगये हैं। यह मंत्रका भाग केवळ सामाजिक स्वरूपका है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। दुष्टको दण्ड देनेका इसमें विषय है। और दण्ड देनेवाला अकेला नहीं है परंतु (वः) अनेक हैं।

‘ (वः जम्भे) आप अनेकोंके एक जबडेमें हम सब मिलकर उस दुष्टको देते हैं ’ आप जो चाहें उसको दंड दीजिए । दंड देनेका अधिकार हम अपनें हाथोंमें नहीं लेते (we do not take the law into our own hands) आप सबकाही दंड देनेका अधिकार है । यह आशय उक्त मंत्र भागमें स्पष्ट है । इसमें न्याय व्यवस्थाकीं बातें स्पष्टतासे लिखीं हैं—

(अ) अनेक सज्जनोंको मिलकर न्याय करना चाहिए ।

(आ) किसीको उचित नहीं कि वह स्वयंहा मनमाना दंड दुष्टको देवे । वह अधिकार न्याय सभाका है ।

(इ) बहुपक्षका द्वेष करना नहीं चाहिये । द्वेष करना बुरा है । स्वसंमति प्रकट करना द्वेष नहीं है ।

(ई) बहुपक्षको भी उचित नहीं कि वे अपनी संमतिसे किसीको दंड देवें । बहुपक्ष और अल्प पक्षके मतभेद होने पर न्याय सभा द्वारा योग्यायोग्यका निश्चय करना चाहिए । और न्याय सभाका निश्चय सबको मानना चाहिए ।

इत्यादि बातें उक्त मंत्रभागसे स्पष्ट सिद्ध होतीं हैं । यहां परमेश्वरके जबडेमें देनेकी कल्पना नहीं प्रतीत होती । अब यहां **‘ जंभ ’** शब्दका अर्थ देखना उचित है—

जंभ—इस शब्दका अर्थ A tooth, tusk, mouth, jaw, thunderbolt, दांत, हाथीका दांत, मुख, जबडा, वज्र, दंड होता है । मंत्रमें **‘ वः जंभे ’** अर्थात् **‘ अनेकोंका एक जबडा ’** कहा है । प्रत्येक प्राणीके लिय एक जबडा हुआ करता है । परंतु यहां अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जबडा कहा है । वास्तविक रीतीसे अनेक मनुष्योंका एक जबडा नहीं

हो सकता, परंतु यहां कहा है, इस लिये यह जबडा वास्तविक नहीं है, केवल काल्पनिक है। निम्न कोष्टकसे व्यक्तिगत और सामाजिक जबडेकी कल्पना आ सकती है--

व्यक्तिका जबडा	समाजका जबडा
जंभ	न्यायालय
मुख	मुख्य
ज्ञानेंद्रिय-पंचक	ज्ञानीजन-पंच
दांत-द्विज	त्रैवर्णिक-द्विज
दंतपंक्ति	द्विज-सभा
चर्वण, चर्वितचर्वण	विषय-चर्चा
अन्न-चर्वण	प्रमाण-विचार

सिंह व्याघ्र आदि हिंस्र पशु अपन शत्रुको अपने जबडमें रखकर खाते हैं। शत्रुको अपने जबडेमें रखनेकी कल्पना नीच प्राणियोंमें है। क्रोधी मनुष्य पागल बनकर अपने शत्रूको काटने दौडता है। परंतु विचारी मनुष्य इस पशुवृत्तीको दबाकर अपने आपको समाजका एक अवयव समजकर, अपने शत्रुको भी समाजका एक अवयव मानता है; इस कारण वह शत्रूको दंड देनेके लिये स्वयं प्रवृत्त न होता हुआ, न्याय सभाकी शरण लेता है, क्यों कि वह ही '**समाजका जबडा**' ह। इस न्यायालयमें द्विजोंकी सभा लगतीं है और वह अनुकूल प्रतिकूल बातोंका मनन वारंवार करके दुष्टको दंड देती है और सज्जनको स्वातंत्र्य अर्पण करती है। इस **समाजके जबडेका**-अर्थात् न्यायसभाका-भाव '**जंभ**' शद्बसे लेना उचित है। यह ही अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जबडा होता है।

तं वो जंभे दध्मः।

(तं) उस दुष्टको हम सब (वः) आप अनेकोंके (जंभे) एक जबडेमें-अर्थात् न्यायसभामें-(दध्मः) धारण करते हैं। अर्थात् आपके आधीन करते हैं। न्यायसभाकी शिरोधार्यता यहां बताई है।

यहांका 'वः' शब्द पूर्वोक्त '**अधिपतिभ्यः, रक्षितृभ्यः**' इन शब्दोंको सूचित करता है। समाजके अथवा राष्ट्रके **अधिपति और रक्षक** (rulers and protectors) '**वः**' शब्दसे जाने जाते हैं। सबका द्वेष करनेवाले दुष्टको इन पंचोंके आधीन करना चाहिए, यह मंत्रका स्पष्ट आशय है। इसीलिये '**अधिपति**' आदि शब्दोंका बहुवचन मंत्रमें आगया है और इसी कारण वह बहुवचन योग्य और अर्थके अनुकूल है।

संध्या करनेके समय इस प्रकार राष्ट्रके योग्य अधिपति और संरक्षकोंको नमन करके, द्वेष करनेवाले शत्रूको उनके आधीन करनेका भाव मनमें धारण करना चाहिए। इससे शत्रूको स्वयं दंड देनेकी और न्यायको अपने हाथमें लेनेकी घमंडकी वृत्ति कम होती है, और पंचोंकी ओरसे न्याय प्राप्त करनेकी सात्विक प्रवृत्ति बढती है। इस प्रकारकी प्रवृत्ति समाजके हितके लिये आवश्यक है।

संध्या करनेके समय इस प्रकार अपने आपको समाजका अवयव समझनेका सात्विक भाव बढाया जाता है। मैं जनताका एक अंश हूं, जनताका और मेरा अटूट संबंध है, यह भावना अत्यंत श्रेष्ठ है, और इस उच्च भावनाका बीज संध्याके समय कितनी उत्तमतासे अंतःकरणमें रखा गया है। यह ही वैदिक धर्मका महत्व है।

'**तेभ्यो नमो०**' आदि दो पाद प्रत्येक मंत्रमें हैं। ये दो पाद छे मंत्रोंमें बार बार कहे हैं। बार बार मंत्रोंका जो अनुवाद किया जाता है उसको 'अभ्यास' कहते हैं। विशेष महत्वपूर्ण मंत्रोंका ही इस प्रकार वारंवार अनुवाद वेदमें किया गया है। इससे सिद्ध है, कि इन मंत्रोंका भाव मुख्य है, और इनके अनुकूल शेष मंत्र-भागका अर्थ करना चाहिए। अर्थात इस सूक्तका अर्थ सार्वजनिक है।

(१ प्राची दिक्) प्रगतिकी दिशा Direction of advancement, (२ अग्निः अधिपतिः) तेजस्वी स्वामी spirited ruler, (३ अ-सितः रक्षिता) स्वतंत्र संरक्षक free protector, और (४ आदित्याः इषवः) स्वतंत्रता पूर्ण वक्तृत्व free dilivery of speech ये चार बातें हैं।

प्रत्येक दिशा विशेष मार्गकी सूचक समझी जाती है और उस विशेष मार्गके साधक तीन गण हैं। प्रत्येक दिशाके साथ ये गण निश्चित हैं। इस पूर्व दिशाके अनुसंधानसे प्रगतिके मार्गका उपदेश किया है। तेजस्विता स्वतंत्रता और वक्तृत्व ये तीन गुण उन्नतिके साधक हैं। अर्थापत्तिसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि निस्तेज निर्वीर्य राजा, पराधीन रक्षक और अस्वतंत्र वक्ता किसी प्रकार भी उन्नतिका साधन नहीं कर सकते। इसी प्रकार अन्य दिशाओंका विचार करके बोध जानना उचित है।

(१) प्रगतिका निश्चित मार्ग, (२) तेजस्वी स्वामी, (३) स्वाधीनता धारण करनेवाला रक्षक, और (४) स्वतंत्रतापूर्ण वक्तृत्व, ये चार बातें मानवी उन्नतिके लिये आवश्यक हैं। इसी प्रकारके स्वामी, संरक्षक, और वक्तृताओंका सत्कार होना उचित है। जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं

उसको आप अधिपतियोंकी सभाके आधीन हम सब करते हैं।' यह मंत्रका सीधा आशय है। मनुष्यके भलाईके उपदेश यहां हैं। इस प्रकार अर्थका मनन करना उचित है। अब मुख्य शब्दोंके मूल अर्थोंका मनन करते हैं—

(१) **'अग्नि'** शद्ब ब्राह्मण और वक्तृत्वका प्रतिनिधि वैदिक वाङ्मयमें है। दिशा कोष्टक सं० ३ देखीए, उसमें प्राची दिशाका **' ब्रह्म '** अर्थात् **ज्ञान** ही धन कहा है।

(२) **' अ-सित '** शद्बका अर्थ un-bound बंधन रहित, स्वतंत्र, स्वाधीन ऐसा है। **'सि-बंधने '** इस धातुसे ' सित ' शद्ब बनता है, जिसका अर्थ 'पर-स्वाधीन' ऐसा होता है। **'अ-सित'** अबद्ध, स्वतंत्र, free।

(३) **' आदित्य '** शद्ब ' अ-खंडनीय ' अर्थमें प्रत्युक्त होता है। **' दो-अवखंडने '** धातुसे ' दिति ' शद्ब बनता है जिसका अर्थ ' खंडित ' है। ' अ-दिति'का अर्थ ' अ-खंडित ' है। अदितिका भाव आदित्य है। अखंडनीय, अमर्याद, बंधन रहित, स्वतंत्रताके भाव, जहां अज्ञानका बंधन नहीं है।

(४) **' इषु '—' इष्-गतौ '** धातुसे यह शव्द बनता है। इस लिये ' गति, हलचल ' यह भाव इस शव्दमें मुख्य है। पश्चात इसके अर्थ to cause to move, *deliver a speech*, proclaim, promote हलचलका यत्न करना, **वक्तृत्व करना**, घोषणा देना, उन्नति करना, ये हो गये। इस धात्वर्थका भाव ' इषवः ' शव्दमें है।

अस्तु इस प्रकार प्रथम मंत्रका आशय है। अब द्वितीय मंत्र देखिए—

(१ दक्षिणा दिक्) दक्षताकी दिशा direction of dexterity, (२ इन्द्रः अधिपतिः) शत्रुनिवारक स्वामी conquering ruler, (३ तिरश्चिराजी रक्षिता) तिरश्चि मर्यादामें चलनेवाला संरक्षक protector who moves in his own line, और (४ पितरः इषवः) वीर्यवान हलचल करनेवाले, ये चार बातें उन्नतिकीं साधक हैं। इसी प्रकारके स्वामी रक्षक और पालकोंका सत्कार होवे। जो आस्तिकोंका द्वेष करता है और जिसका आस्तिक द्वेष करतें हैं उसको हम सब आप अधिपतियोंकी सभाके आधीन करते हैं।

(५) '**इन्द्रः**'—(इन् शत्रून् द्रावयिता ॥ निरु. १०।८) शत्रुका निवारण करनेवाला, विजयी।

(६) '**तिरश्चिराजी**'—तिरः—Through बीचमेंसे, **अंच्**— to move जाना, **राजी**—line लकीर, मर्यादा। अपनी मर्यादाका उल्लंघन न करनेवाला।

(७) '**पिता**'—(पातीति पिता) संरक्षक पिता है। वीर्य धारण करके उत्तम संतान उत्पन्न करनेवाला वीर्यवान पुरुष पिता होता है।

यह भाव द्वितीय मंत्रका है अब तीसरा मंत्र देखीए-(१प्रतीची दिग्) अंतर्मुख होनेकी दिशा direction of turning inward (२ वरुणः अधिपतिः) सर्व संमत स्वामी elected ruler, (३ पृदाकुः रक्षिता) स्पर्धामें उत्साही रक्षक protecor who is active in the struggle, और (४ अन्नं इषवः) अन्नकी वृद्धि increase of food ये चार बातें अभ्युदय कीं साधक हैं।

(१ उदीची दिग्) उत्तर दिशा, उच्च तर होनेकी दिशा, direction of betterment, (२ सोमः अधिपतिः) शांत स्वामी peaceful ruler (३ स्व-जः रक्षिता) स्वयं सिद्ध संरक्षक ever ready protector और (४ अशनिः इषवः) तेजस्वी प्रगति ये चार बाते उन्नति कीं है।

(१ ध्रुवा दिग्) स्थिर दिशा direction of firmness, (२ विष्णुः अधिपतिः) कार्यक्षम स्वामी working ruler, (३ कल्माषग्रीवः रक्षिता) कर्मकर्ता संरक्षक active protector और (४ वीरुधः इषवः) औषधियोंकी वृद्धि raising of vegetation ये चार बातें उत्कर्षके लिये हैं।

(१ उर्ध्वा दिग्) उच्च दिशा direction of elevation (२ बृहस्पतिः अधिपति) ज्ञानी स्वामी learned ruler, (३ श्वित्रः रक्षिता) शुद्ध संरक्षक pure protector, (४ वर्षं इषवः) वृष्टिकी गति ये चार बातें उन्नति करनेवाली हैं।

अब इनके शब्दार्थोंका मनन करेंगे। शब्दोंके मूल धात्वर्थ नीचे दिये है—

(१) '**वरुणः**'—वर–वृ–वरणे। पसंद करना। जो पसंद किया जाता है वह वरुण होता है। सर्व संमत।

(२) '**पृदाकुः**'—(पृत्–आ–कुः)–पृत् का अर्थ Battle युद्ध, संग्राम, स्पर्धा। स्पर्धाके समय उत्साहके शब्द बोलने वाला 'पृदाकु' होता है।

(३) '**सोमः**'—शांतिका सूचक चंद्र अथवा सोम है। इसका दूसरा अर्थ '**स+उमा**' अर्थात् विद्याके साथ रहनेवाला अर्थात् ज्ञानी है। '**षु–प्रसवऐश्वर्ययोः**' इस धातुसे 'सोम' शब्द

बनता है जिसका अर्थ उत्पादक, प्रेरक और ऐश्वर्यवान ऐसा होता है।

(४) '**स्वजः**'—(स्व + जः)–self-born, self-made, अपनी शक्तिसे रहनेवाला, जिसके लिये दूसरेकी शक्तिका अवलंबन करनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वावलंबन–शील। स्वयं जिसका यश चारों आर फैलता है।

(५) '**अशनिः**'—यह विद्युत्का नाम है। तेजस्विताका बोध इस शब्दसे होता है। 'अश्' धातुका अर्थ 'व्यापना' है। व्यापक शक्तिका नाम अशनि है।

(६) '**विष्णुः**'—All–pervader, worker, सर्व व्यापक, कर्ता, उद्यमी।

(७) '**कल्माष–ग्रीवः**'—'कलमन्'का अर्थ 'कर्मन्' अर्थात् कर्म, कार्य, उद्योग है। 'कल्माष'=(कलम–स)=कर्मके द्वारा अनिष्ट बुराईका नाश करनेवाला। '**कर्मणा अनिष्टं स्यति इति कर्माषः। कर्माष एव कल्माषः।**' पुरुषार्थसे दुष्टताको दूर करके सुष्टुताको पास करनेवाला और इस प्रकारके पुरुषार्थके भाव गलेमें सदा धारण करनेवाला 'कल्माष–ग्रीव' किंवा 'कर्मा–स–ग्रीव' कहलाता है।

(८) '**बृहस्पतिः**'—महान ज्ञानका स्वामी, ज्ञानी। स्तुति अथवा भक्तिका अधिष्ठान।

(९) '**श्वित्रः**'—शुद्ध, पवित्र, श्वेत।

अस्तु इस प्रकार मुख्य शब्दोंके अर्थ हैं। वास्तवमें मनसा परिक्रमाके मंत्रोंके विषयमें ठीक अर्थका निश्चय अबतक हुआ नहीं है। कमसे कम सब शब्दोंका भाव मेरे मनमें अबतक उतरा नहीं है। तथापि इन मंत्रोंके विचारके लिये जो साधन चाहिए उन सबको यहां एकत्रित किया है। अशा है कि पाठक इस सब साधन सामुग्रीका विचार करेंगें।

पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुव और ऊर्ध्व ये छे दिशायें क्रमशः प्रगति, चातुर्य, शांति, उन्नति, स्थैर्य और श्रेष्ठता इन छे गुणोंके सूचक हैं। इन छे गुणोंका साधक 'गुण–चतुष्टय' पूर्वोक्त मंत्रोंमें वर्णन किया है। (१) दिशा, (२) अधिपति (३) रक्षक और (४) इषु ये चार शब्द विशेष संकेत के हैं, और इन शब्दोंमें यहां असाधारण विशेष गूढ अर्थ है, इस बातका प्रकाश पाठकोंके मनमें पूर्ण रीतीसे पडाही होगा। वारंवार मनन करके इनके गूढ तत्वका ज्ञान प्राप्त करना हम सबका कर्तव्य है।

इन मंत्रोंमें 'इषु' शब्द विलक्षण अर्थके साथ प्रयुक्त हुआ ह। इसका किसी अन्यभाषामें भाषांतर करना अत्यंत कठिन कार्य है। किसी एक प्रतिशब्दसे इसका भाव प्रकट होता ही नहीं। इसलिये इन मंत्रोंको विशेष विचारसे सोचना चाहिए।

'**मनसा परिक्रमा**' का हेतु इतना ही है कि अपनी और जनताकी वास्तविक स्थितिका विचार मानसिक सृष्टिमें परिभ्रमण करके करना। इस विचारको करते हुए मानवी उन्नतिके साधक गुण समुदायका मनन करना उचित है। उत्तम अधिपति और श्रेष्ठ संरक्षकोंका सन्मान होनेसे जन समाजकी स्थिति ठीक रहती

है, और राज्यशासन ठीक चल सकता है। अधिपति मुख्य होते हैं और संरक्षक उनके आधीन रहकर कार्य करनेवाले होते हैं। अधिपति और संरक्षकोंके विषयमें जनतामें निरादर नहीं होना चाहिए। अधिपति और संरक्षकोंके गुण, जो इन मंत्रोंमें वर्णन किये है, जहां होंगे वहां सब जनताका पूज्यभाव अवश्य रहेगा। दुष्टको दंड देनेका अधिकार इनकाही है। किसी मनुष्यको उचित नहीं की वह अपने हाथमें न्याय करनेका अधिकार स्वयंही लेकर किसीको दंड देवे। इससे अशांति और अराजकता होती है। इसलिये प्रत्येक मंत्रमें कहा है कि 'हम श्रेष्ठ और योग्य अधिपतियोंका आदर करते हैं और दुष्टका शासन होनेके लिये उसको उनहींके स्वाधीन करते हैं।' इस भावका संस्कार सब लोकोंपर होनेकी बडी भारी आवश्यकता है।

मनसे सार्वजनिक अवस्थाका निरीक्षण करना और मानवी हितसाधन करनेका विचार करना, इन मंत्रोका मुख्य उद्देश है। '**अघ-मर्षण**' के मंत्रोंतक सब मंत्रोंमें मुख्यतया व्यक्तिके सुधारकी बातें आ चुकीं हैं, पश्चात् इन मंत्रोंमें जनताकी उन्नतिके विचारकी सूचना मिली हैं। वैदिक धर्ममें व्यक्ति और समाजका मिलकर सुधार लिखा है। केवल व्यक्तिका सुधार नहीं होगा, और केवल समाजका भी नहीं होगा। दोनोंका मिलकर होगा। व्यष्टि समष्टिकी मिळकर उन्नति होनी हैं। इसलिये प्रतिदिनके संध्योपासनामें ये सार्वजनिक उन्नतिके मंत्र रखे हैं। प्रत्येक मंत्रके प्रथम पंक्तिमें सामान्य सिद्धांत कहे हैं और शेष मंत्रमें उन सिद्धांतोंको जनतामें घटाकर बताया है।

उपस्थान ।
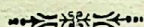
'**उप-स्थान**' का अर्थ 'समीपके स्थान पर बैठना' अर्थात् ईश्वरके पास होना। उपास्यके पास जा कर बैठना। परमेश्वर सर्वत्र है इस लिये यद्यपि सब लोक स्थानसे उसके पास ही हैं, कदापि दूर नहीं हो सकते, तथापि ज्ञानसे और मनकी भावनासे परमेश्वरके पास जानेका यहां तात्पर्य है। 'मैं अब परमेश्वरके पास पहुंचता हूं, अब मैं दूसरे किसीके साथ संबद्ध नहीं हूं, केवल परमेश्वरसे मेरा मेल हुआ है।' इस प्रकारकी मनकी भावना अब करना चाहिए। मेरे चारों ओर अंदर बाहर परमात्मा है, उसके अभय स्थानमें मैं पहुंचा हूं, यही विचार इस समय मनमें धारण करना चाहिए। किसी प्रकारका संदेह न धारण करते हुए उक्त विचारमय मन करनेसे थोडे ही समयमें ऐसा अनुभव आने लगता है, कि मैं इस जगतसे भिन्न स्थान पर पहुंच रहा हूं, और किसी अलौकिक अवस्थाकी प्राप्ति मुझे हो रही है। इस अवस्थामें यदि एक क्षणमात्र मनमें विकल्प आ जायगा तो फिर जागृतिकी अवस्था प्राप्त होती है। इस लिये मनसे विकल्प भावनाको हटानेका अवश्य यत्न होना चाहिए। और जहां तक हो सके वहां तक जगतके भानका विस्मरण करनेका यत्न होना चाहिए। यह अवस्था प्रयत्नसे सुसाध्य है, परंतु जो मनुष्य इस संधि अवस्थाके समय अपनी तर्कशक्ति जारी रखेगा, उसको इस अभौतिक अवस्थाकी प्राप्ति होनी नहीं है। 'मनसा परिक्रमा'के मंत्रों द्वारा मानव जातीकी सेवा करनेका भाव दृढ होनेके पश्चात ही परमेश्वरके पास उपासक पहुंचता है यह बात इस स्थान पर ध्यानमें रखने योग्य है।

इस अभौतिक अवस्थामें जानेके समय विविध प्रकारकीं अकल्पित घटनाएं सन्मुख आ जातीं हैं। परंतु उनका भी विचार छोडना चाहीए। उनका विचार करनेसे फिर वह ही जागृतिकी अवस्था आ जाती है। जिस समय उपासक जागृतिका भान छोडता है, और सन्मुख आनेवाले अकल्पित घटनाओंका भी विचार नहीं करता, तब वह उच्च अवस्थामें पहुँचता है, कि जहाँ जानेसे उसको अभौतिक आनंदकी प्राप्ति होती है, और जिस अवस्थामें उसको समयका भान भी नहीं होता।

उपासनाका यही फल है। यह अवस्था प्राप्त करना हरएकका निसर्गसिद्ध अधिकार है। इसी अवस्थाकी प्राप्तिके लिये संध्या की जाती है। परंतु लोक समझते हैं कि केवल संध्याके मंत्र रटनेमात्रसे सब कार्यभाग हो सकता है। यह भ्रम है। संध्याके मंत्र कहने मात्रसे कभी कार्यभाग नहीं होगा। उसके लिये मनको प्रतिदिन (training) सुशिक्षित करना चाहीए। यह ही (training) संध्याके समय दिया जाता है। जो प्रयत्नसे अपने मनपर सुसंस्कार डालेगा वह ही उक्त अवस्थाका अनुभव प्राप्त कर सकता है। संध्याका प्रदर्शन करनेवाले और केवल प्रचारार्थ संध्याका नाट्य करनेवाले न केवल पीछे रहेंगे परंतु नीचे गिरेंगे। यह बात हर एक धार्मिक मनुष्यको अच्छी प्रकार ध्यानमें धरना चाहीए।

अब उपस्थानका प्रथम मंत्र देखेंगे। इस प्रथम मंत्रमें उक्त अनुभवका क्रम उत्तम रीतीसे बताया है। इस क्रमका विचार करनेसे पूर्व इस मंत्रकी एक विशेषता बतानी है। यह मंत्र '**शब्द–चित्र**' अथवा '**शब्दालंकार**' का एक उदाहरण है। जो कहते हैं कि शब्दालंकार वेदमें नहीं है उनको

इस मंत्रकी ओर अवश्य देखना चाहिए। वेदमें इससे भी बढकर शब्दालंकार हैं, उनके उदाहरण देनेके लिये यहां स्थल नहीं हैं। इसी मंत्रमें ' **उत्, उत्तर, उत्तम,** ' पदोंका स्थान देखिए, मंत्र पढनेके समय ये शब्द कितना आराम देते हैं, इसका विचार कीजिए, आरामके साथ साथ कुछ विशेष उच्च भाव की सूचना भी पाठकोंके मनमें उत्पन्न होती है यह भी यहां भूलना नहीं चाहिए। इससे पाठक जान सकते हैं कि केवल यहां ' शब्दचित्र ' ही नहीं है परंतु साथ साथ अर्थालंकार भी है। शब्दकी विशेष रचनाके साथ अर्थका गौरव भी इसमें पाया जाता है।

इस मंत्रके प्रारंभमें ' **उत्** ' पद है, मध्यमें ' **उत्तर** ' पद है और अन्तमें ' **उत्तम** ' पद है। ' **उत्, उत्तर, उत्तम** ' ये पद उन्नतिका क्रम बता रहे हैं। ' **तर, तम** ' प्रत्यय एकसे दूसरेकी श्रेष्ठता बताते हैं। उक्त शब्द तीन अवस्था बता रहे हैं और एकसे दूसरी अवस्था श्रेष्ठ है।

देवं देवत्रा सूर्यमगन्म
ज्योति'**रुत्तमम्**' ॥

स्वः पश्यंत ' **उत्तरम्** ' ॥

' **उद्** ' वयं तमसस्परि
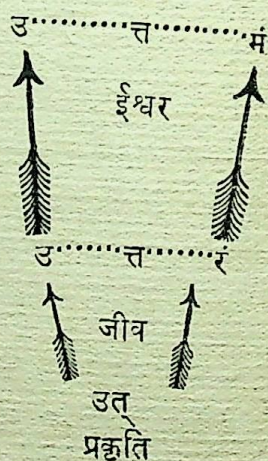
पूर्व स्थलमें जागृतिकी एक अवस्था बताई है। उपासना करते करते एक मध्यम अवस्था प्राप्त होती है, और पश्चात तीसरी उच्च अवस्था प्राप्त होती है ऐसा कहा है। उक्त तीन अवस्थाओंकी सूचना '**उत्, उत्तर, उत्तम**' ये शब्द यहां दे रहे हैं। पहिली साधारण अवस्था है, दूसरी मध्यम अवस्था है और तीसरी उत्तम अवस्था है। मंत्रमें उक्त तीन शब्द तीन स्थानमें इसी लिये रखे हैं कि उपासकोंको प्राप्तव्य स्थानकी ठीक कल्पना आ जावे तथा उपासक बीचकी अवस्थामें ही न रहे क्यों कि वह बीचकी अवस्था है न कि उत्तम अवस्था। देखीए वैदिक शब्द रचनाकी गंभीरता कितनी अद्भुत है।

'**वयं तमसः परि उत्**' हम सब तम अर्थात् प्रकृतिके परे ऊपर चढें। यह मंत्रका पहिला कथन है। जागृतिकी अवस्थामें जो प्रकृतिकी चमकाहट दीखती है उससे ऊपर उठनेकी सूचना यहां मिलती है। 'तमः' शब्द mental darkness, illusion मानसिक अंधकार, भ्रम, ignorance अज्ञान, प्रकृति आदिका द्योतक है। इससे ऊपर उठना चाहीए। प्राकृतिक जगतका जो कुछ अनुभव है वह ही सब कुछ अनुभव नहीं है, उससे श्रेष्ठ अनुभव हैं जो मानसिक अज्ञानके ऊपर उठनेसे प्राप्त हो सकते हैं। यहांका 'उत्' शब्द इस प्रकार ऊपर उठनेकी सूचना दे रहा है।

'**उत्तरं स्वः पश्यन्तः।**' अधिक उत्कृष्ट स्वात्मतेजका अनुभव लेते हुए ऊपर चढते हैं। यह मंत्रका द्वितीय कथन है। यह मध्यम अवस्था है। प्रकृतिके चमत्कारोंका भान इस अवस्थामें नहीं है, केवल स्व स्वरूपका अनुभव है। प्रकृतिकी जडता छूट गई है, आत्माकी तेजस्विता यहां प्राप्त हो गई है। यह अवस्था

निःसंदह '**उत्तर**' अर्थात् अधिक उच्च है, परंतु सबसे उत्तम नहीं है, क्यों कि तेजके स्रोतके मूलमें हमें पहुंचना है, वहां तक हमारी गति नहीं हुई । यदि हम इस बीचकी अवस्थामें रहेंगे तो बीचमें ही रहेंगे, इस लिये यहांसे भी ऊपर ऊठना चाहिए ।

'**उत्तमं ज्योतिः अगन्म** ।' उत्तम अर्थात् सबसें श्रेष्ठ ज्योतीको प्राप्त करेंगे । यह तीसरा कथन है। पूर्व दोनों अवस्थाओंके पश्चात जो श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होने वाली थी वह यही है । '**सूर्यं देवं**' सर्व प्रकाशक दिव्य आत्माके तेजकी प्राप्ति यहां होती है । सबसे उत्तम यदि कोई अवस्था है तो यह ही है ।

इस अवस्थाकी प्राप्तिके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । क्यों कि यह अनुपम अवस्था है इसी लिये मंत्रमें इसका '**उत्तम**' शब्दसे वर्णन किया है । उपस्थान अथवा उपासना करनेके पाश्चात् जो कुछ प्राप्त होना था वह यही है ।

उपस्थानका द्वितीय मंत्र—'ज्ञानी लोक सबको ज्ञान देनेके लिये उस सर्वज्ञ दिव्य परमात्माका अनुभव लेते हैं ।' यह भाव इस मंत्रका है । ज्ञानी गुरुजन ही परमेश्वरके सच्चे झंडे हैं ।

'**जात-वेदसं देवं**' ये शब्द परमात्माके द्योतक हैं । (जात) बने हुए पदार्थ मात्रको यथावत् (वेदसं) जाननेवाला जो देव होता है वह सर्वज्ञ परमेश्वर ही है । उसको '**केतवः**' अर्थात् प्रज्ञावान लोक उत्तम रीतीसे जानते हैं । अथवा ये अनुभव लेनेवाले महात्मा लोक ही उस परमात्माको दर्शानेवाले केतू अर्थात् झंडे हैं । जिस प्रकार पताकाएं अथवा झंडे उत्सव स्थानका बोध कराते हैं, उसी प्रकार महात्मा लोक,साधुसंत सज्जन ही उस दिव्य परमात्माके झंडे हैं अर्थात् उसके सूचक हैं । इस लिये परमात्मका

ज्ञान उनके पास जानेसे प्राप्त हो सकता है। उनके प्रेमपूर्ण हृदय परमात्माका ज्ञान देनेके लिये अत्यंत योग्य हैं।

" भक्तोंके हृदय रूपी झंडे हैं कि जो ऊपर उठाये जाते हैं इस लिये कि सर्वज्ञ दिव्य परमेश्वरका स्वरूप सब लोकोंको ज्ञात होवे। " यह आशय उक्त मंत्रका वास्तव रूपसे है।

उपस्थानका तृतीय मंत्र—' सब दिव्य पदार्थोंको बल देनेवाला, सब प्रकाशकोंका प्रकाशक, सबका अंतरात्मा मेरे अंतःकरणमें उदयको प्राप्त होवे। ' यह इच्छा इस मंत्रमें है। यही भक्तकी प्रबल इच्छा होती है। भक्तके अंतःकरणमें यदि कोई इच्छा होगी तो यही है। सब स्वार्थ कीं इच्छायें पीछे छोड कर परमात्माका सच्चा भक्त इसी एक प्रबल इच्छासे आगे बढता है उसकी सब सिद्धि इस इच्छाकी प्रबलता पर ही निर्भर है। इस समय उसको सर्वत्र परमात्माकी शक्ति दीख रही है। सब जगतके अंदर जो मूल शक्ति है वह परमात्माकी आत्मशक्ति ही है, जो सूर्यके अंदर तेज स्थापन करती है, जिसने अग्निके अंदर प्रकाश रखा है। जलमें शीतगुण जिसनें रखा है तथा अन्य जगतके पदार्थोंमें भिन्न भिन्न गुण जिसनें रखे हैं, वह परमात्माकी अद्वितीय शक्ति ही है। जिसके होनेसे सबका अस्तित्व है और जिसके न होनेसे किसीका अस्तित्व नहीं हो सकता, इस प्रकार सर्व समर्थ और सबसे श्रेष्ठ जो परमात्मा है उसीका ध्यान, मनन और चिंतन करना है। तथा उसके अद्भुत अपार गुणोंको अपने अंदर धारण करना इस साधनका कार्य है।

उपस्थानका चतुर्थ मंत्र—अब यहां उपासक कहता है कि 'वह दिव्य पवित्र ज्ञान तेज मेरे अंदर उदित हो गया है।' उसको अब अनुभव होता है, कि उस परमात्माके तेजका अपने अंदर

उदय हुआ है, वह पारमात्मिक तेज 'शुक्र' अर्थात् पवित्र और वीर्यवान अथवा बलवान है, और वह ही सच्चा 'चक्षु' अर्थात् ज्ञान नेत्र है। दिव्य दृष्टिका वह ही साधन है। मनुष्यकी एक साधारण लौकिक दृष्ट होती है, और दूसरी श्रेष्ठ दृष्टि उसको विशेष अभ्याससे प्राप्त होती है। वह ही श्रेष्ठ दृष्टि चक्षु शब्दसे यहां वर्णन की है। इस दिव्य चक्षुका खुल जाना ही संध्याका परम साध्य है।

जब उपासककी दिव्य दृष्टि खुल जाती है, तब वह कहता है कि (१) मैं सौ वर्ष जीवित रहकर उत्तम दृष्टीसे सब जगतका निरीक्षण करूंगा, (२) सौं वर्षपर्यंत पूर्ण आयुका अनुभव लेता हुआ उत्तम पुरुषार्थ करता रहूंगा, (३) सौ वर्षपर्यंत अपनी श्रवण शक्तिसे उत्तम उत्तम उपदेशोंका ग्रहण करता रहूंगा, (४) सौ वर्षपर्यंत प्रवचन करता रहूंगा अर्थात् जो ज्ञान प्राप्त हुआ होगा उसका दान दूसरोंके हितके लिये करूंगा, (५) सौ वर्षपर्यंत अदीन अर्थात् बलवान रहूंगा, दीनता मेरे अंदर कभी नहीं रहेगी; उत्साह वीर्य और बल मेरे अंदर सदा रहेगा, इतना ही नही परंतु (६) सौं वर्षसे अधिक आयु मैं प्राप्त करूंगा और उस अधिक आयुमें उत्तम उत्तम पुरुषार्थ करता रहूंगा।

इस प्रकारकी प्रबल पुरुषार्थकी इच्छा इस मंत्रमें यहां कही है। जब जीवात्मा उपासनासे निर्भय बनकर परमात्मामें ही विचरता रहता है तब उसके अंदर दीनता और हीनताके विचार कभी नहीं आ सकते। क्योंकि वह पूर्ण उत्साहमय परमात्म तत्वके साथ संमिलित हुआ होता है। निरुत्साह और दीनता उसके पास अबी नहीं आ सकतीं। निर्भय, स्वस्थ, शांत, उत्साही पूर्ण पुरुषार्थी वह जीवात्मा अब बन गया है। उसको अब कोई शक्ति

नीचे नहीं गिरा सकती । क्षणभंगुरताके निरुत्साही विचार उसके पास अब नहीं जा सकते । पूर्ण निर्भयताके उत्साही विचार ही अब उसके पास स्थिर रह सकते हैं । उसमें अब इतना उत्साह होगा कि जो मनुष्य उसके साथ इस समय होगा वह भी उसीके अनुसार उत्साहमय हो सकेगा । इतना उसका प्रभाव हो सकता है । अब इस मंत्रके साथ संध्याके प्रारंभके मंत्रोंकी संगति देखनी है ।

(१)	पश्येम शरदः शतं ।...	चक्षुः ।	चक्षुः ।	...अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु ।
(२)	जीवेम शरदः शतं ।...	प्राणः ।	प्राणः ।	...नसोर्मे प्राणोऽस्तु ।
(३)	शृणुयाम शरदः शतं ।...	श्रोत्रं ।	श्रोत्रंः ।	...कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ।
(४)	प्रब्रवाम शरदः शतं ।...	वाक् ।	वाक् । कंठः ।	...वाङ्म आस्येऽस्तु ।
(५)	अदीनाः स्याम शरदः शतं । ...	बाहुभ्यां यशो बलं ।		बाह्वोर्मे बलमस्तु । ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु । अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु ।
(६)	भूयश्च शरदः शतात् ।			

इस कोष्टकसे पता लग जायगा कि अंतिम मंत्रके प्रतीकके साथ प्राथमिक वाक्योंका किस प्रकार संबंध है, और एक दूसरेके संबंधसे हरएक वाक्यका किस प्रकार अर्थ करना उचित है । चक्षुरादि अवयव उत्तम अवस्थामें मेरे शरीरमें सौ वर्ष रहें इत्यादि प्रकारकी इच्छा जो संध्याके प्रारंभिक वाक्योंमें प्रकट की थी, वह ही संध्याके अंतिम मंत्रमें प्रकट हो गई है । इससे सिद्ध है कि बीचके प्रकरण भी दीर्घ आयु, उत्तम बल, श्रेष्ठ आरोग्य, अप्रतिम वक्तृत्व आदिका साधन करनेवाले हैं । इससे संध्याका उद्देश विदित होता है । ब्रह्मज्ञानका उद्देश अथर्व वेदनें बताया है–

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् ॥
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२९॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ॥
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥

अथर्व. १०।२

" जो उपासक भक्त अमृतसे वेष्टित ब्रह्मकी नगरीको जानता है, उसको ब्रह्म और (ब्राह्मः) ब्रह्मजनित इतर देवता चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं। चक्षुरादि इंद्रिय, प्राण अर्थात् आयु वृद्धावस्थाके पूर्व उसको नहीं छोडते कि जो ब्रह्मकी नगरीको जानता है। "

ब्रह्मज्ञानका फल यहां वर्णन किया है। (१) पूर्ण आयुकी समाप्ति तक उसके इंद्रिय क्षीण नहीं होते, (२) उसकी दीर्घ आयु होती है, और (३) उसकी प्रजा उत्तम होती है। ये तीन फल ब्रह्मज्ञानके हैं। इस अथर्व वेद मंत्रका संबंध यहां लगा कर देखीए। तो '**पश्येम शरदः शतं**' यह भी ब्रह्मज्ञानीकी आकांक्षा प्रतीत होगी। अंतःकरणमें दिव्य ज्ञानचक्षुका प्रकाश होनेके पश्चात् उक्त इच्छा है अर्थात् ब्रह्मज्ञान होनेके पश्चात उक्त इच्छा है।

वेदके धर्मसे हरएक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह दीर्घ आयुक लिये प्रयत्न करे। दीर्घ आयु, आरोग्य और सुसंतान ये तीन बातें ब्रह्मज्ञानीके लिये सुरक्षित करना चाहिये अथवा जो ब्रह्मज्ञानी होता है उसके लिये ये तीन बातें प्राप्त होतीं ही है।

गुरुमंत्र ।

गुरुमंत्रके साथ ' ॐ भू र्भुवः स्वः' पद लगे हैं । इनका अर्थ ' सच्चिदानंद परमेश्वर ' है । (भूः–सत्ता) सत् (भुवः–अवकल्पनं) चित्, चिंतन, कल्पना, (स्वः) आनंद (ॐ) परमात्मा । सच्चिदानंद परमेश्वरका ध्यान गुरुमंत्र द्वारा किया जाता है । सच्चिदानंद परमात्माही सबका सच्चा एक उपास्य है ।

' उस सकल जगदुत्पादक ईश्वरके श्रेष्ठ तेजका हम सब ध्यान करतें हैं कि जो हम सबकी बुद्धियोंको प्रेरणा करता है । ' यह गुरुमंत्रका आशय है । परमेश्वरकी प्रेरणा भक्तोंके अंतःकरणमें होती है, यह बात यहां लिखी है । सबसे यह बात मुख्य है । परमेश्वर–उपासनाका महत्व इसी बातमें है । परमेश्वरकी प्रेरणासे अंतःकरणोंकी शुद्धि होती है परंतु ईश्वरकी प्रेरणाकी धारणा करने योग्य अपने अंतः करण प्रथम बनाना चाहिए ।

प्रेरक ईश्वर सबको प्रेरणा कर रहा है । शाश्वत कालसे उसकी प्रेरणा चल ही रही है, परंतु सब मुक्त नहीं हुए । यद्यपि गंगा बह रही है, तथापि वहां गंगामें जा कर शरीरकी शुद्धि करनेका पुरुषार्थ करना चाहिए । यद्यपि वायुका संचार सर्वत्र हो रहा है तथापि तंग मकानोंमें रहनेके कारण वायुका सेवन योग्य रीतीसे नहीं हो सकता । यद्यपि सूर्यका आयुष्य वर्धकप्रकाश सब जगतमें फैल रहा है तथापि घरोंकी विलक्षण रचनाके कारण उस सार्वभौमिक सूर्य प्रकाशसे कोई लाभ नहीं हो सकता । अर्थात् विश्व कीं शक्तियां यद्यपि विश्वके लाभके लिये सर्वत्र फैल रहीं हैं, तथापि हम अपने आपको योग्य न बनानेके कारण उन शक्तियोंके लाभसे वंचित रहते हैं । वह ही प्रकार परमात्माकी प्रेरणाके विषयमें समझना चाहिए ।

जिस प्रकार तंतुवाद्य कीं तारें, यदि एक स्वरमें मील जायगीं तो ही एकका आवाज होनेसे दूसरीसे भी स्वयं आवाज होने लगता है। ठीक उस प्रकार यदि हमारे मन बुद्धि और आत्मा उत्तम प्रकारसे शुद्ध और निर्दोष हो गये, तो ही परमात्माकी प्रेरणाका ग्रहण कर सकते हैं; अन्यथा उस प्रेरणाका कोई परिणाम नहीं हो सकता। संध्याके पूर्व भागमें जो तैयारी करनेकी सूचना दी है वह इसी लिये है कि हमारे मन आदि परमेश्वरीय प्रेरणाका स्वीकार करने योग्य बनें।

उपस्थान तक जो विधि रखे हैं सब इसी लिये हैं। इस कारण पूर्वोक्त विधिके मंत्र केवल रटने मात्रसे इष्ट लाभ कदापि नहीं हो सकता। उन विधियोमें जो जो बातें मुख्यतया कर्तव्य रूपसे रखीं हैं उनको आचरणमें लानेकी अत्यंत आवश्यकता है। तभी चित्तकी योग्यता जैसी चाहिए वैसी हो सकती है और परमेश्वरकी प्रेरणा धारण करके आत्मोद्धार करनेकी योग्यता उपासकके अंतःकरणमें प्राप्त हो सकती है।

इस गुरुमंत्रके विवरणके विषयमें यजु. अ. ३६ की व्याख्या अर्थात् '**शच्ची शांतिका सच्चा उपाय**' नामक पुस्तक पाठक देख सकते हैं।

गुरुमंत्रके जपके विषयमें अब यहां थोडासा लिखना आवश्यक है। गुरुमंत्रका जप करनेका विधान है। अर्थकी भावनाके साथ मंत्रका वारंवार उच्चार करनेका नाम जप है—

तज्जपस्तदर्थभावनम्। योग दर्शन। १।२८

'मंत्रके अर्थकी भावना करना मंत्रका जप होता है।' अर्थके मननमें मनको तल्लीन करना चाहिए। अर्थात् मनके अंदर अन्य कोई विचार नहीं आना चाहिए। केवल मंत्रके अर्थका मनन ही

मनमें रहना चाहिए । मनन जैसा जैसा बढता जाता है, और मनकी भावना जैसी दृढ हो जाती है, वैसा एक प्रकारका रस उत्पन्न होता है, और असाधारण आनंद होने लगता है । मंत्रार्थका मनन करते करते अपने मनका प्रवेश उस अर्थके अंदर करनेका यत्न करनेसे उक्त रसकी शीघ्र उत्पत्ति होती है । जिस अर्थमें प्रथमतः कोई विशेषता प्रतीत नहीं होती, उसी अर्थमें मनकी तल्लीनता जब होने लगती है, तब विशेष गंभीरता प्रतीत होने लगती है; इसके पश्चात जब अन्य सब विचार छूट जाने लगते हैं और केवल वही एक विचार मनमें स्थिर होने लगता है, तब पूर्वोक्त रसका अपूर्व आनंद प्राप्त होने लगता है ।

अर्थकी दृष्टिसे एकाग्रता करनेका यह प्रकार है । शब्दकी दृष्टीसे मनकी एकाग्रता करनेका प्रकार भी यहां लिखना उचित है । प्रथमतः गुरुमंत्रका उच्चार खुली आवाजसे करना; पश्चात् उससे छोटी आवाजमें, उसके पश्चात् उससे कम आवाजमें, इस प्रकार बिलकुल मनमें जप करने तक गुरुमंत्रका उच्चारण करना । जब बिलकुल मनमें उच्चारण होने लगता है तब चित्तकी एकाग्रता हो जाती है । अर्थात् प्रारंभसे मनको उक्त मंत्रपर ही एकाग्र करनेका अभ्यास करना चाहिए । अन्यथा मनकी एकाग्रता साध्य नहीं हो सकती ।

मनमें मंत्रका उच्चार करनेका प्रकार भी विचारपूर्वक ध्यानमें धरना चाहिए । (१) मुख बंद करके अंदर ही अंदर मंत्रोच्चार करना, जो दूसरे किसीको सुनाई न दे परंतु स्वयं अपने आपको सुनाई देवे; यह एक प्रकार है । (२) दूसरा प्रकार ऐसा है कि जिह्वाका कोई अवयन बिलकुल न हिलाते हुए केवल मनसे ही मंत्रका उच्चार मनमें करना । परंतु ऐसा ख्याल करना की मैं

इन अक्षरोंका श्रवण कानसे कर रहा हूं। सचमुच इस प्रकार केवल मानसिक उच्चारणका श्रवण अपने कानोंसे हो सकता है। कई यहां पूछेंगे कि जिन अक्षरोंका बाहेर उच्चार भी नहीं होता, उनका श्रवण कैसे हो सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर मैं नहीं दे सकता, परंतु मैं यह कह सकता हूं कि केवल मानसिक उच्चारणका स्पष्ट श्रवण अपने कानोंसे होता है। और जिस समय ऐसा श्रवण होता है उस समय मानसिक एकाग्रताकी पूर्व अवस्था प्राप्त होती है। इससे भिन्न तीसरा एक प्रकार है (३) गुरुमंत्रके अक्षरोंका मानसिक उच्चार करनेके समय उक्त अक्षर अपने बंद आंखोंसे देखनेका अभ्यास करना। जपके समय आंख बंद ही रहने चाहिए। बंद आंखोंसे अक्षरोंका दर्शन होना असंभव नहीं है। इतना ही यहां मैं कहता हूं। मनकी प्रबल इच्छासे कुछ अभ्यासके पश्चात् स्पष्ट अक्षर दिखाई देते हैं। इस प्रकार अक्षरोंके दर्शनसे मनकी एकाग्रता शीघ्र साध्य होती है।

इस बातको यहां स्पष्ट कह देनेकी आवश्यकता है कि एक रीती एक उपासकको ठीक प्रतीत होगी, तो दूसरी दूसरेको अच्छी और सुगम प्रतीत हो सकती है। रीती और विधिकी सुगमता और कठिनता उपासकके मनकी अवस्था पर निर्भर हैं। कई अन्य रीतियां भी हो सकतीं हैं, परंतु ऊपर उतनीं ही दीं हैं कि जिनका अनुभव लिया गया है।

गुरुमंत्रका जप कमसे कम तीन वार करते हैं, परंतु केवल तीन वार करना आपत्कालके लिये ही समझना चाहिए। दसवार अठाईस वार, एकसौ आठवार आदि प्रकारसे कई कहते हैं। इसमें मेरे विचारसे संख्याका महत्व नहीं हैं। जितन वार चाहिए आप कर सकते हैं, परंतु जप करते करते ऐसी अवस्था प्राप्त

होनी चाहिए कि जिसका अभौतिक अवस्था कही जा सकती है, जिस अवस्थामें जागृतिका भान हट जाता है और समयका विचार दूर हो जाता है। जब तक ऐसी अवस्था प्राप्त नहीं होती तब तक किया हुआ जप अभ्यास मात्र अथवा साधन मात्र समझना चाहिए। जब उक्त प्रकारकी अवस्था थोडी देर तक भी प्राप्त होगी, तब समझना चाहिए कि जपकी वास्तविक प्राप्तव्य भूमिका प्राप्त होगई है। इसके पश्चात् वह अवस्था देर तक रखनेका अभ्यास एक निष्ठासे होना उचित है, अन्यथा प्राप्त भूमिकामें अवस्थिति नहीं हो सकती।

गुरुमंत्रका जप करनेकी और एक रीति है। वह भी किसी समय कईयोंको बडी लाभ देती है। श्वास करते हुए एक बार मंत्रका जप करना, और उच्छ्वासके साथ एक बार मंत्रका जप करना। श्वास और उच्छ्वास आहिस्ते करते हुए शनैः शनैः मंत्रका जप क्रमपूर्वक करते रहना चाहिए। जिसका श्वास और उच्छ्वास इतना लंबा नहीं होता, उसके लिये इस प्रकार श्वासमय जप करना बहुत कठिन प्रतीत होता है। इस कारण ऐसे लोकोंके लिये यह जप नहीं है। परंतु जिनको प्राणायामका कुछ अभ्यास है और जिनके श्वास पर्याप्त दीर्घ होते हैं उनके लिये श्वासमय जपसे चित्तैकाग्र्य करना बडा सुगम होता है। इतना ही नहीं परंतु यदि इनका इस प्रकार जप अधिक होने लगेगा तो '**सूर्यचक्र**' की स्वाधीनता प्राप्त होना बहुत सुगम होता है। नाभिस्थानके पास '**सूर्य-चक्र**' है। जिसकी स्वाधीनता होनेसे बहुतही अच्छी और उच्च योगकी अवस्था प्राप्त हो सकती है। यह ग्रंथोक्त विषय है, अनुभवका नहीं है, इस लिये इस विषयमें अधिक लिखना असंभव है।

कई लोक श्वासके साथ अर्थात् पूरकके साथ एक मंत्र, कुंभकके साथ एक मंत्र, तथा रेचक अथवा उछ्वासके साथ एक मंत्र, इस प्रकार प्राणायामके साथ तीन मंत्रोंका जप करते हैं; तथा कई ऐसे हैं कि पूरकके साथ एक, कुंभकके साथ चार और रेचकके साथ दो वार मंत्रका जप करते हैं। परंतु यह प्रकार बहुत कठिन और सबको साध्य होनेवाला नहीं है। इस लिये मेरा विचार है कि जब तक प्राणायामका अच्छा अभ्यास न होगा तब तक कोई इन कठिन प्रकारोंका अभ्यास न करें।

गुरुमंत्रका जप शनैः शनैः करना चाहिए। तथा जो मानसिक जप होता है उस समय बहुतही आहिस्ते करना उचित है। तथा जिस समय मानसिक उच्चारके साथ अक्षर दर्शन करना हो उस समय तो अत्यंत शनैः शनैः करना चाहिए। शीघ्रता करनेसे वैसा लाभ नहीं होता जैसा आहिस्ते आहिस्ते जप करनेसे हो सकता है।

जप करनेके समय निम्न भावना मनके अंदर अवश्य धारण करना चाहिए। (१) परमेश्वरकी अद्भुत शक्ति, (२) परमेश्वरकी सर्वोपरि सत्ता, (३) परमेश्वरके ध्यानसे उच्च अवस्थाका प्राप्त होना, (४) परमेश्वरकी प्रेरणा प्राप्त करनेकी आतुरता, (५) परमेश्वरकी सर्व मंगलमयता, (६) संध्याके साधनसे परमेश्वरीय शक्तिकी प्राप्ति होनेका निश्चय। इन पर विश्वास रख कर जपका साधन करनेसे शीघ्र फल प्राप्त होता है।

जिस दिन जपके समय मनकी एकाग्रता होती है उस दिन सब व्यवहार करनेके समय दिनभर एक प्रकारका अपूर्व उत्साह और आनंद प्रतीत होता है। वह दिन असाधारण प्रतीत होने लगता है। 'चित्तकी प्रसन्नता' ही इस सिद्धिका लक्षण है

निष्कारण प्रसन्नताका अनुभव होनेसे सब जान सकते हैं, कि संध्याके समय चित्तकी एकाग्रता हो गई थी।

इस प्रकार चित्तकी एकाग्रता साध्य हो गई तो लौकिक व्यवहारमें भी बहुत लाभ हो सकता है। सब कार्य ठीक प्रकार और विना दोषके हो सकते हैं। सब कार्य शीघ्रताके साथ किये जा सकते हैं। तथा अन्य भी बहुतसे लाभ होते हैं कि जिनके कहनेकी यहां कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकारकी प्रसन्नता प्राप्त होनेसे मनकी विलक्षण शांति रहती है, संसारकी आपत्तिसे मन विक्षिप्त नहीं हो सकता, इस लिये इसको उत्तम आरोग्य प्राप्त हो सकता है। अस्तु।

नमन ।

उपासना कर्मकी समाप्ति हो गई। अब उपास्य परमात्म देवके लिये नमन करना है। सब कर्म नमस्कारसे ही सांग और पूर्ण होते हैं। परमेश्वरके लिये यदि हम कुछ अर्पण कर सकते हैं तो केवल '**नमन**' ही अर्पण कर सकते हैं। नमन अर्थात् पूर्ण रीतीकी नम्रता। किसी प्रकार अहंकार, घमंड, गर्व, आदि भाव मनमें न रखते हुए, अपने सर्वस्वका परमात्माके लिये समर्पण करना नमनका तात्पर्य है। जो परमेश्वर सब कुछ जानता है, जिसके आधारसे सब कुछ रहा है, सबके भलाईके लिये जो सब कुछ कर रहा है, पूछने और प्रार्थना करनेसे पहिले ही जो सब कुछ कर रहा है, पूछने और प्रार्थना करनेसे पहिले ही जो हम सबकी आवश्यकताएं जानता है, जो सर्वशक्तिमान, सर्वाधार, सर्वनियंता, सर्वज्ञ, सर्वश्रेष्ठ है, जिसने सब जीवोंकी उन्नतिके लिये यह सब संसार रचा है, जिसकी अपार दया सब

जीवोंपर एक जैसी फैल रही है, वह परमेश्वर ही सबका आश्रय और वंदनीय है इसमें क्या संदेह है ?

" जो शांतिका स्रोत, सब प्रकारके सबके दुःख दूर करनेवाला, जो सबका कल्याण करनेवाला और सबको सुख देनेवाला, जो स्वयं मंगलमय और कल्याण स्वरूप है, उसी परमात्माके लिये मैं पूर्णतासे आत्म समर्पण करता हूं, उसीके सन्मुख नम्र होता हूं, और उसीको नमस्कार करता हूं । " यह आशय इस नमनके मंत्रका है ।

जब तक घमंड मनमें होगी तब तक आत्मिक भूमिकामें उन्नति प्राप्त होना सर्वथा असंभव है । गर्वको दूर करनेके लिये 'नमन' ही एक उपाय है । घमंडको दूर करनेका तात्पर्य कई समझते हैं कि अपनेपनका पूर्ण अभाव करना । परंतु यह आशय यहां नहीं है । 'अ-हं' का अर्थ ही यह है कि 'जिसका नाश कभी नहीं होता ।' (अ) नहीं (हा) नाश अथवा त्याग । जिस कल्पनाका त्याग किया नहीं जाता । वह ही 'अ-हं' कल्पना है । सब धर्मके विधि अपने आत्माकी उन्नतिके लिये अर्थात् 'अहं' पदसे जो बोधित होता है उसकी उन्नतिके लिये हैं । जिसकी उन्नति करना है उसीका अभाव यदि अंतमें हो गया, तो सब प्रयत्न व्यर्थ हो जांयगे, इस लिये गर्वको दूर करना है न कि अपनेपनका भाव ही मिटाना है । 'मैं परमात्मा को नमन करता हूं ।' (**भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम** । यजु. ४०।१८) इसमें अपनेपनका अभाव नहीं है । तथा इस संध्याके नमन मंत्रमें भी अपनेपनका अभाव नहीं है । घमंड और गर्वको दूर करना और बात है, और अपनेपनको मिटानेका प्रयत्न करना और बात है ।

अस्तु । परमेश्वरके सन्मुख नम्र होना सब मनुष्य मात्रके लिये

उचित है। सब मनुष्यों का हित उसीमें है। कई मनुष्य यहां प्रश्न करते हैं, कि परमेश्वर को इतना डरनेकी क्या आवश्यकता है? उनके प्रश्नके उत्तरमें इतना ही कहना पर्याप्त है, कि परमेश्वरको डरनेके लिये न तो इस मंत्रमें कहा है और न किसी अन्य मंत्रमें कहा है। वैदिक धर्ममें परमेश्वरके साथ उपासकका प्रेम है, न कि डर है। उपासक यहां डरके लिये नम्र नहीं होता, परंतु भक्तिसे अर्थात् प्रेमके कारण नम्र होता है। जिस प्रकार माताके सन्मुख पुत्र असीम मातृप्रेमसे नम्र होता है, उसी प्रकार सब उपासक, परमेश्वरके अमृतपुत्र, मातृपितृ स्वरूप परमेश्वरके सन्मुख मातृप्रेमके साथ, प्रेमातिशयसे, नम्र होते हैं। वैदिक धर्ममें परमेश्वरका स्वरूप माता, पिता, भाई, बंधु, सखा आदि प्रकारका कहा है। इससे पता लग जायगा कि यहां डरनेका कोई किसीको ख्याल भी नहीं है। जिस प्रकार पुत्र अपने मातापिताके पास जाता है, जिस प्रकार भाई अपने भाईसे मिलता है, जिस प्रकार मित्र अपने मित्रके गले लगता है, उसी प्रकार उपासक परमेश्वरके पास जाता है और आत्मनिवेदन करता है।

इससे वैदिक धर्ममें 'नमन' की कल्पना किस प्रकारकी उच्च है, इस बातका पता लग सकता है। इस लिये यहां कोई न समझे कि अनियंत्रित सार्वभौमके सामने सिर झुकानेके समान यहांका नमन है, परंतु यहांका नमन माताको नमस्कार करनेके समान प्रेमसे पूर्ण है।

अस्तु। इस प्रकार प्रेमपूर्ण नमनके साथ यह संध्योपासनाका यज्ञ समाप्त किया जाता है।

ओं शांतिः। शांतिः। शांतिः।

(व्यक्तिकी शांति। जनताकी शांति। जगतकी शांति।)

---:o:---

विषय-सूची ।

मंत्र-सूची.

योग-साधन--माला।

'वैदिक धर्म' वास्तवमें आचार प्रधान धर्म है। वेदका उपदेश केवल मनमें धारण करनेसे, वेदके मंत्रोंका अर्थ समझनेसे, अथवा वैदिक आशयको केवल विचारमें रखनेसे कोई प्रयोजन नहीं निकल सकता, जब तक उस उपदेशके अनुसार आचरण नहीं होगा।

'वैदिक उपदेशका तत्व' आचरणमें लानेके उद्देशसे ही 'योग-शास्त्र' का अवतार हो गया है। प्राचीन कालमें 'योग-साधन' का अभ्यास सर्व साधारणतः आठ वर्षोंकी अवस्थामें प्रारंभ किया जाता था। विशेष अवस्थामें इससे भी पूर्व होता था। आठ वर्षोंकी बालपनकी आयुमें योग साधनका प्रारंभ होनेसे और गुरुके सन्निध रहकर प्रतिदिन योग साधन करनेसे २५।३० वर्षोंकी अवस्थामें ब्रह्मसाक्षात्कार होना संभव था। अथर्व वेद (कां.।१०।२।२९) में कहा है कि "जो इस अमृत मय ब्रह्मपुरिको जानता है, उसको ब्रह्म और इतर देव इंद्रिय प्राण और प्रजा देते हैं।" अर्थात् पूर्ण दीर्घ आयुकी समाप्तितक कार्यक्षम और बलवान इंद्रिय, उत्तम दीर्घ जीवन, और सुप्रजा निर्माणकी शक्ति, ये तीन फल

ब्रह्मज्ञानसे मनुष्यको प्राप्त होते हैं। यदि योग्य रीतीसे 'योग साधन'का उत्तम अभ्यास हो गया, तो ब्रह्मचर्य समाप्ति तक उक्त अधिकार प्राप्त होना संभव है।

इस समय योग साधनके अभ्यासका क्रम बतानेवाला गुरु उपस्थित न होनेके कारण कईयोंकी इस विषयकी इच्छा तृप्ति नहीं हो सकती। इस लिये "योग-साधन-माला" द्वारा योगके सुगम तत्वोंका अभ्यास करनेके साधन प्रकाशित करनेका विचार किया है। आशा है कि पाठक इससे लाभ उठायेंगे।

इस मालाके पुस्तकोंमें उतनाही विषय रखा जायगा कि जितना अभ्याससे अनुभवमें आचुका है। पहिले कई सालतक अनेक मनुष्योंपर अनुभव देखनेके पश्चात ही इस मालाके पुस्तक प्रसिद्ध किये जाते हैं। इस लिये आशा है कि पाठक स्थिररूपसे ग्राहक बनेंगे और अभ्यास करके लाभ उठायेंगे।

मंत्री-स्वाध्याय-मंडळ।

औंध (जि-सातारा)

वेदका स्वाध्याय कीजिए।

स्वाध्यायके निम्न पुस्तक विक्रीके लिये तैयार हैं।

(१) यजु. अ. ३० की व्याख्या। **नरमेध। मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन।** मूल्य एक रुपया।

(२) यजु. अ. ३२ की व्याख्या। **सर्वमेध। एक ईश्वरकी उपासना।** मूल्य आठ आने।

(३) यजु. अ. ३६ की व्याख्या। **शांतिकरण। सच्ची शांति का सच्चा उपाय।** मूल्य आठ आने।

(४) **मानवी आयुष्य।** मूल्य तीन आने।

(५) **रुद्र देवताका परिचय।** मूल्य आठ आने।

(६) **ऋग्वेदमें रुद्रदेवता।** मूल्य दस आने।

(७) **३३ देवताओंका विचार।** मूल्य दो आने।

(८) **संध्योपासना॥** मूल्य डेढ़ रुपया।

(९) **वैदिक-राज्य-पद्धति।** मू. दो आने।

मंत्री—स्वाध्याय--मंडल,

औंध (जि. सातारा).

वेदका पढना पढाना सुनना सुनाना
सब आर्योंका परम धर्म

है।

इस लिये सबको प्रतिदिन वेदका स्वाध्याय करना चाहिए। यदि आप वेदका स्वाध्याय करना चाहते हैं तो शीघ्र ही--

"वैदिक--धर्म"

मासिक पुस्तकके ग्राहक बन जाईए। और अपने मित्रोंको ग्राहक बननेके लिये उत्साह दीजिए। 'वैदिक धर्म' मासिकका वार्षिक मूल्य डाकव्यय आदि समेत ३॥) साढे तीन रु० है।

मंत्री—स्वाध्याय--मंडल,
औंध (जि. सातारा).